कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

अशोकवन

[वैदेही का वंदी-जीवन-संबंधी खंडकाव्य]

गोकुलचन्द्र शर्मा

१९५६

हिन्दी प्रकाशन मंदिर

प्रकाशक :
बृहस्पति उपाध्याय
हिन्दी प्रकाशन मंदिर
इलाहाबाद

मूल्य
डेढ़ रुपया

सुरेन्द्र प्रिंटर्स प्राईवेट

प्रकाशकीय

इस पुस्तक में हिन्दी के सिद्धहस्त लेखक पं० गोकुलचन्द्र शर्मा ने अत्यन्त भावपूर्ण ढंग से जगज्जननी सीता-माता के अशोकवन में वंदी-जीवन का चित्र उपस्थित किया है। इस विषय पर हिन्दी में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हैं लेकिन यह पुस्तक अपने ढंग की एक ही है। वहुत ही प्रवाहपूर्ण और प्रांजल भाषा एवं शैली में विद्वान् लेखक ने विषय का प्रतिपादन किया है। ऐसा सजीव और भावना-मय चित्रण अन्यत्र कम ही देखने में आता है।

एक प्रकार से इस पुस्तक में सम्पूर्ण रामायण की कथा समाविष्ट है। विभीषण की पत्नी सरमा के प्रश्न करने पर लेखक ने सीताजी के मुँह से अशोकवन में आने से पूर्व की पूरी कथा कहलवा दी है। इस प्रकार इस पुस्तक के पढ़ने में पूरी राम-कथा की झलक मिल जाती है।

रामायण का हमारे भारतीय जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी कथाओं के पठन से भारत के कोटि-कोटि जन अपने जीवन में गहरी स्फूर्ति और शक्ति प्राप्त करते हैं। भारतीय तथा अन्य भाषाओं में ऐसे ग्रन्थ वहुत हीं कम मिलेंगे जिनका लोक-जीवन पर इतना व्यापक प्रभाव हो।

इस खंड-काव्य की रचना सुयोग्य लेखक ने अपने दीर्घकालीन अध्यापन के अनभव के पश्चात् की है। अतः पुस्तक विद्यार्थियों के लिए निःसंदेह वहुत उपयोगी और प्रेरणादायक सिद्ध होगी।

हमें विश्वास है कि इस अत्यधिक लोक-प्रिय ग्रन्थ में से लिये हुए कथानक के आधार पर लिखा गया यह खंड-काव्य बड़े ही चाव और अपनत्व के साथ पढ़ा जायगा।

आत्म-निवेदन

राम का चरित्र तो अतुलनीय है ही, किंतु रामनाम में सर्वात्मभाव से तन-मन को लीन करनेवाली राघवेंद्र-प्रिया सीता के चरित की उपमा भी कहीं नहीं मिलती। उस अलौकिक चरित में भी रामनाम का जप करती हुई एकाकिनी विदेहनंदिनी का अशोकवन में निवास अद्भुत घटना । वहाँ उनके जगदंबा-स्वरूप का दर्शन होता है । तरुण तपस्विनी सीता के उस मंजुल वेष में जो तेजोद्दीप्त ज्योति लक्षित होती है वह भारतीय ही नहीं, विश्वनारी की अमूल्य निधि है। तप का भी प्राण है जप। केवल मुख से ही होठ हिलाकर रामनाम लेना नहीं, वरन् मौन होकर शरीर की समस्त शक्तियों को एकाग्र करते हुए मनोमय मुद्रा में राम म तल्लीन होना ही जप है, रामधुन का सार है। जप में विश्वविजयिनी शक्ति है और उसीमें विश्व के कल्याण की कामना का निवास भी है। जप-प्राणा साध्वी सीता के पुण्यव्रत में, अमल आचरण में जिनकी वृत्ति रमती है, उनका जीवन धन्य है !

कितने महामति कवियों ने जगदीश्वरी जनकनंदिनी का गुणगान करके अपनी लेखनी को पवित्र नहीं किया ? आदिकवि वाल्मीकि ने उसी पुण्यचरित से अपनी वाणी को विभूषित किया। प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास ने मुक्तकण्ठ से उस सर्वश्रेयस्कारी सीता का यशोगान गाया। महाकवि माइकेल मधुसूदन दत्त ने उनके चरित का ओजस्वितापूर्ण चित्रण

किया। कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने भी उनका बड़ा मनोहर चित्र उतारा है। इन सत्कवियों के निर्माण किये हुए काव्य-सेतु पर चढ़कर मेरा तो यह पिपीलिका-प्रयास ही समझिए। पिपीलिका (चींटी) की गति गरुड़-वेग को नहीं पा सकती, पर उसके परिश्रम में उसका भी एक गौरव है। झिझक तो बहुत रही फिर भी कुछ लिखे बिना न रहा गया। यही साहस अथवा दुस्साहस इस रचना की प्रेरणा का मूलस्रोत है, जिसके उद्‌गम का श्रेय रामचरितमानस के यत्किंचित् अध्ययन को है।

माता सीता के चरित्र-चित्रण में मेरी सूझ किसीको, संभव है, कुछ अटपटी-सी लगे, किंतु मुझे उसके व्यक्त करने में कुछ संकोच नहीं हुआ। होता भी क्यों? अज्ञता या अनभिज्ञता के लिए सबसे अधिक क्षमा माता के चरणों में बैठकर ही तो मिलती है। विद्वानों, आलोचकों तथा कृपालु पाठकों को यदि इसमें कुछ रुचिकर लगे तो वे उसे उन्हीं पुण्य-चरणों का प्रसाद समझें, मेरा कुछ नहीं। मेरे मन की बात तो इतनी है कि :

रामवल्लभा जगन्माता जानकी के वन-जीवन में उनके पुनीत चरित्र का अलौकिक आभास मुझे मिला, भारतीय संस्कृति के सुंदरतम स्वरूप के दर्शन हुए। प्राणिमात्र की कल्याण-कामना की प्रतिमा तपस्विनी सीता की परमोज्ज्वल झाँकी मुझे प्राप्त हुई, उसीकी पदनिःसृत करुणाधारा से मेरा हृदय शीतल हुआ। जीवन की आकांक्षाओं ने उस महिमामयी कल्प-लता की छाया में विश्राम पाया, उस महाशक्ति की मंदाकिनी के स्रोतः सलिल में स्नान करके रोम-रोम उत्फुल्लित और अंग-अंग संस्फूर्त हुआ। विनय की उस मूर्तिमती देवी के दिव्य तेज में मैंने विजय की अखंड ज्योति जाज्वल्यमान देखी और मंगलमयी उस मंजुल मुद्रा में प्रभु की लोकरंजिनी लीला का लालित्य अवलोका। उसीके पद-पद्मों की निर्मल नखद्युति से दृष्टि में विमलता आई और आनंद का आलोक पाया।

युग की पुकार है कि सत्साहित्य की सृष्टि करो, सदाचार का स

ऊँचा उठाओ। चरित्र-निर्माण के रचनात्मक साहित्य द्वारा देश में जागरण की ज्योति जगाओ। हिन्दी ने राष्ट्रभाषा का रूप धारण किया है। उसे सार्वदेशिक, सुग्राह्य तथा सरल बनाने का भार हिन्दी के प्रत्येक लेखक के कंधों पर है। इस सेवा में यथाशक्ति योग देने की उत्कट अभिलाषा तथा कर्त्तव्यपूर्ति की भावना ने भी मुझे इस रचना के लिए प्रेरित किया। अध्यापन से अवकाश ग्रहण करते ही अपने दुर्बल करों में मैंने फिर लेखनी थामी और मातृभाषा की विमल वेदिका पर अपना नैवेद्य चढ़ाने को अग्रसर हुआ हूँ। इसके लिए रामचरित ही मैंने चुना। इसीमें मुझे भारत के प्राण दिखाई देते हैं। राम राजा होते हुए भी राजा नहीं, प्रजाप्राण हैं। आज भी हमारा सर्वोच्च ध्येय रामराज्य ही है और "रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं।" के अनुसार रचना नीरस भी हो तो रामचरित का रस तो पाठकों को मिलेगा ही।

भाषा और भावों के विषय में मुझे अधिक नहीं कहना। ध्येय मेरा अवश्य सरलता और सुगमता रहा है। प्रचलित शब्दों तथा प्रयोगों को मैंने ग्रहण किया और भाषा के प्रवाह को जटिल वन्याओं में जाने से रोकने की चेष्टा की है। खड़ीबोली के समान प्रतीत होनेवाले ब्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग मैंने जानबूझकर किया है, केवल इसी हेतु से कि जहाँ अन्य भाषाओं के शब्दों को अपनाने में खड़ी बोली हिचकती नहीं, उनका स्वागत ही करती है, वहाँ उसे ब्रजभाषा का आरम्भिक बिलगाव भी छोड़ ही देना चाहिए। इससे उसका वैभव ही बढ़ेगा। जल में जंगल को बोरे, सुंदरताई, ठवनि, धजीले, अधमाई, हेरा, अरुणारे आदि इसके उदाहरण हैं। फिर भी इनका उचित से अधिक अथवा अनावश्यक प्रयोग नहीं किया गया।

मेरी धारणा हो चली है कि वर्तमान व्यस्त युग में विस्तार के लिए स्थान नहीं। संक्षिप्त, किन्तु स्पष्ट तथा सुबोध विचारों से पूर्ण रचनाएँ ही अधिक लोकप्रिय होंगी और उन्हींका प्रभाव भी अधिक जीवनव्यापी होगा,

वे रचनाएं चाहे काव्य हों, चाहे नाटक, उपन्यास. अथवा कहानी। इस धारणा की मान्यता में शैली का आकर्षण विशेष अनिवार्य हो जाता है। वह शैली भी सरल तथा प्रसादमयी हो, इस दृष्टिकोण को भी मैंने अपने सम्मुख रखा है। यदि यह रचना सार्वदेशिक साहित्य की श्रेणी में कुछ योग दे सके, जन-जीवन में चरित्र-निर्माण के भाव उठा सके और राष्ट्र में शिव का जागरण कराने में सहायक हो सके तो मेरा प्रयास सार्थक होगा।

विष्णुपुरी, अलीगढ़।
अगस्त १५, १९५१

—गोकुलचन्द्र शर्मा

अशोक वन

पहला सर्ग

१

वन अशोक की धन्यश्री में बैठ विरहिणी सीता ने,
तरुण तपश्री जनकनंदिनी जगवंदिता पुनीता ने,
प्रभु-पद-पद्म ध्यान में धारे राम-नाम-जप-प्रीता ने,
जन-मन की कलिका विकसाई उसकी गौरव-गीता ने।

२

माँ मैथिली! हृदय-कानन में वही रूप लेकर राजो,
अवगुण के इस गहन गेह में भर प्रकाश मंगल साजो।
आवें रघुकुलरत्न स्वयं जो ध्वंस करें तम की लंका,
काँपें असुरवृत्तियाँ सारी चाप-ध्वनि से सातंका।

३

अंबुराशि के ऊपर उठते गिरि त्रिकूट की चोटी पर,
स्वर्णपुरी लंका की शोभा-भूमि सजीली कोटी पर,
प्रासादों से दूर, प्रकृति के मुख का मानों दर्पण-सा,
है अशोकवन फुल्लित, शोभन, कुसुमाकर का अर्पण-सा।

४

चित्र-विचित्र खगों से कूजित पल्लविनी तरुमाला से,
कलरव, कलकल में मिलता है गिरि-प्रवाहिणी-बाला से,
जिसके जल की धवल ऊर्मियाँ मिल-मिल जलधि-तरंगों में,
बिखरा देतीं नील पटी पर मोती रंजित रंगों में।

५

धुली पयोधि-नीर से तट की शुभ्र शिलाएँ खड़ी वहाँ,
चरणसेविकाएँ हैं मानों स्वर-सरिता की लड़ी वहाँ।
अंबर का चुंबन करती हैं हिमकिरीटनी बालाएँ,
उषा-नृत्य से इंद्रचाप-सी चमक रहीं गिरि-मालाएँ।

६

बाल-क्रीड़ा करता कोई शिशु हो जैसे दोले में,
अखिल विश्व की कांति समेटे अपने आनन भोले में।
वैसे ही इस कानन के तरु, पल्लव त्रिविध समीरण से,
हिल-हिल ललचा देते लोचन अपने अद्भुत क्रीड़न से।

७

कुसुम-कोष की गोदी में है सरसी एक जड़ा हीरा,
नीलम, माणिक के घाटों पर छायी छवि, निर्मलनीरा।
इंदीवर उत्फुल्ल सुहाये, कलहंसों के हैं जोड़े,
पंख फुलाये कहीं, कहीं पर तरते जो ग्रीवा मोड़े।

८

हरी दूब के शाद्वल तट पर, विधि की निखिल निकाई-से
सघन अशोकावली छत्र-सी लसी सहज सुघराई से।
उसके भीतर स्वर्ण-सौध के कलश मनोरम झाँक रहे,
मानों उपवन के वैभव की अनुपमता हैं आँक रहे।

९

वीथी-वीथी के छोरों पर लता-वितान तने रूरे,
पड़ी पीठिकाएँ मणिमंडित, रत्नजटित हैं कंगूरे।
फल-विनम्र तरुओं की डाली गुच्छ-गुच्छ को गोद-धरे,
खिला रहीं लालों को मानों अपने-अपने मोद-भरे।

१०

मय दानव की शिल्प-कला से उभरी प्रकृति मयंकमुखी,
मंद-मंद मुसकान डालती बैठी है संपन्न, सुखी।
इसी पटी पर प्रकटित होने युग-युग-परिवर्तनशीला,
आई है भूभारहारिणी करुणाकर प्रभु की लीला।

११

अहो! अशोकारण्यवासिनी, विवश वंदिनी सीता की,
शोकहरों के बीच शोक की दीखी मूर्तिमती झाँकी।
केश-कलाप खुला वेणी का, पलकों के पट बंद किये,
बनी विभूषणहीना दीना बैठी है मुख मंद किये।

१२

नंदनवन-से कानन में भी वधिक-जाल में पड़ी मृगी,
अविरल अश्रुधार बरसाती विरह-व्यथा से दीन-दृगी।
मुख-मुद्रा पर खिंची एक है वक्र, विषादमयी रेखा,
जिसमें भावी की रचना का चित्र बना जाता देखा।

१३

चारों ओर चेरियों का दल उस अबला का है प्रहरी,
चिंता की छाया को है जो करता अधिकाधिक गहरी।
विकटानना, व्याघ्रनयनी हैं, हैं कराल दंता, दुष्टा,
कालसर्पिणी, मुण्डमालिनी, पीनांगी, हृष्टा, पुष्टा।

१४

कामरूप मायाविनियाँ हैं, रचती हैं महती माया,
भयंकरी हैं, प्रियंकरी हैं, धरती हैं बहुधा काया।
कभी अप्सरा बनी नाचतीं, कभी किलकतीं बन भीमा,
सीता के कौतूहल की है बढ़ती ही जाती सीमा।

१५

मेरुप्रभा, कैलासधाम की कीर्ति सुनी थी सीता ने,
पंचवटी की पर्णकुटी की प्रीति गुनी थी सीता ने।
किन्तु, नहीं कंचननगरी की प्रभुता कुछ भी जानी थी,
उस सरला ने कुटिलपुरी की आकृति कब अनुमानी थी?

१६

दिन के स्वप्न न सोने पाते रजनी यों ही आ जाती,
शुभ्रा कभी, कभी श्यामा हो, विटपी-दल पर छा जाती।
किंतु जनकजा के अंतर में निशा निरंतर रहती थी,
रविकुलरवि के बिना तिमिर की धूमिल धारा बहती थी।

१७

वंदनीय वंदी कितने हैं बंदीगृह में बैठ तपे!
तपस्तेज से जिनके कितने क्रूर कलेजे नहीं कँपे!
कितने कंस नृशंस, सुरों को, साधुजनों को सता चुके!
कारागृह भी कृष्ण-जन्म से भय का भंजन जता चुके।

१८

वंदी के बल का संचित जल रुका न कभी शिलाओं से,
सरल सत्य ने लिया न लोहा कहाँ रीति कुटिलाओं से?
दबी हुई साँसों से भभकी कब न क्रांति की चिनगारी?
बंधन के प्राचीरों में ही बँधा न क्या बंधनकारी?

१९

तो भी भौतिक वैभव अपना एक मार्ग ही अपनाता,
पशु-बल के प्रचंड शासन में प्रभुता-पटुता दिखलाता।
दूषित [illegible], पाप-प्रलोभन, कपट-कला के वंचन से,
मानवता का गला घोंटता शक्ति-प्रदर्शन, कंचन से।

२०

राघव की कल्याण-कामना वैदेही है एक जहां,
देखो, चलता है रावण का कुटिल-कल्पना-चक्र वहां।
त्रिजटा की अधिनायकता में सीता का मन हरने को,
शत-शत चेरी खड़ी हुई हैं शत-शत सेवा करने को।

२१

चलने को संकेतों पर, पर भोग-जाल में लाने को,
छलना के बल पतिप्राणा की मन की तपन बुझाने को,
माया का मंडप रचती हैं मायापति की जाया से,
नहीं जानतीं खेल रही हैं तन की केवल छाया से।

२२

संध्या थिरक रही है नभ पर सूर्य-बिंब जल में जाता,
थके हुए अंगों को मानों सिंधु-नीर में नहलाता।
लोल लहरियां एक साथ ही मलने को तन कूद पड़ीं,
उछल-उछलकर छवि छलकाती बूंद-बूंद पर बूंद पड़ीं।

२३

सीता ने देखा रवि-किरणें तिरछी उत्तर को पड़तीं,
मोद-मग्न दिनकर के मुख से मानों फुलझड़ियां झड़तीं।
रविकुल-मणि की मायामृग के पीछे पड़ती क्रीड़ा का,
चित्र उपस्थित हुआ हृदय में भावोदय था व्रीड़ा का।

२४

लगी सोचने, किस कुलग्न में हाय ! बनी मैं मृगलोभी !
चिरशोभी राघव को लेकर भागा चंचल क्षणशोभी !
लक्ष्मण को, हा ! ललित लाल को किस कुबुद्धि में पड़ कोसा ?
विधे ! तुम्हारी प्रबल प्रेरणा, जिसने दुर्मति को पोसा।

२५

मेरा रोष स्वयं ही मेरी विपदाओं का स्रोत बना,
मेरी ही वाणी का स्वर उठ पीड़ाओं का पोत बना।
क्या ये नयन न शीतल होंगे प्रभु के प्यारे दर्शन से ?
आशा के अंकुर न बढ़ेंगे अश्रुनीर के वर्षण से ?

२६

सागर ! तुम गुरु हो रविकुल के, मेरी आर्त्त गिरा का स्वर,
पहुँचा दो रघुवीर जहाँ हों, अपने गर्जन से सत्वर।
हा ! वे दोनों वीर भटकते होंगे कानन-कानन में,
मुझे खोजते तृण में, तरु में, वन के आनन-आनन में।

२७

प्रभु सर्वज्ञ जानते हैं सब, किंतु अभाग्य अकेला कब,
आता है, देता दुखिया को केवल एक धकेला कब ?
ऐसा ही होता तो क्या मैं अंबुधि-पार यहाँ आती ?
फट जाती धरती ही तो मैं उसमें आप समा जाती।

२८

क्रंदन सुनकर क्या न गगन से उल्का टूट प्राण हरता
मेघ-ध्वनि से गाज गिराकर वज्री क्या न अन्त करता
क्या न प्रभंजन भंजन करता एक-एक हड्डी मेरी
मंदभाग्य ही करा रहा है मृत्यु-मिलन में भी देरी

२९

विपुल व्यथाएँ लगीं झूमने उन विस्फारित नेत्रों में
प्राणहारिणी पीड़ा जागी तन के विक्षत क्षेत्रों में
सिसकी बँधी, सँभाला आकर मूर्छा ने धीरे पग धर
असहाया अबला के सुध की चेतनता के बल को हर

३०

सीता गिरी शिला पर, टपके दो दृगंबु के मोती झर
सपने रोये सोती-सोती हिलकी भरकर रोती पर
दौड़ दासियों ने तत्क्षण ही देह-ताप को दिया मिटा
कमलनाल का पंखा झलकर शय्या पर था दिया लिटा

३१

मनस्ताप के महावेग से, किंतु तुरंत गई घेरी
महा वेदना लगा रही थी उसके मस्तक में फेरी
निद्रा दया-द्रवित तब दौड़ी, कर से शिर को सहलाती
जुड़ा रही थी जनकसुता की छाती से लगकर छाती

३२

स्वप्नों ने धीरज देने को मिथिला की मखशाला में
हुँचाया उस सुकुमारी को, रंगस्थली विशाला में।
ड़ा पिनाक जहाँ था निश्चल राजाओं का मद छीने,
ड़े विदेह विषण्णवदन थे चिंता के जल में भीने।

३३

ौशिक थे आदेश दे रहे धनुष तोड़ने राघव को,
त्सुक थी सब सभा देखने नृप-किशोर के लाघव को।
ठे राम, थी सिंह-ध्वनि से ठनक उठी वह राजसभा,
ली प्रभामंडल से मानों उठती एक प्रचंड प्रभा।

३४

ानी नृप थे गाल बजाते अब भी लज्जाहीन वहाँ,
फल स्वयंवर होने देंगे मानो धृष्ट कभी न वहाँ।
्टदेव को मना रहे थे मिथिला के सब नर-नारी,
कृतों के फल धनुर्भंग पर चढ़ा रहे थे व्रतधारी।

३५

ीता सुरवंदन करती थी सत्य-स्नेह की डोर लगा,
चल नयन लगा अवनी में, कभी राम की ओर लगा।
थिवा को अवलोक एक क्षण शंभु-चाप पर टकराई
घव की स्नेहार्द्र दृष्टि, बन व्याल-बाल को गरुड़ाई।

३६

संजीवनी मिली सीता को चितवन में पीयूष-भरी
सूखी स्वर्ण-लता हो मानों रस-स्पर्श से हुई हरी
फूल उठी कलिका ज्यों मन में, उल्लासों का वेग बढ़ा
विद्युद्युति दिखलाता नभ में देखा शिव का चाप चढ़ा

३७

टूटा जभी, हुई हर्ष-ध्वनि, जनकदुलारी जाग पड़ीं
पुनः प्रभात-पटी पर जलती वहीं दिखाई आग पड़ी
लाल लाल लगता था ऐसा उसे उषा का पहनावा
मानों अपने उग्र वेष में पसरी हो प्रचंड दावा

३८

त्रिजटा ने आकर धीमे-से उससे कुशल-प्रश्न पूछा
पर मिथिलेशनंदिनी को था अर्थहीन, रूखा, छूछा
शिष्टाचार किंतु, वाणी में मधुर भाव लेकर प्रकटा
"मंगल ही है वहाँ जहाँ हो करती रखवाली त्रिजटा

३९

नित्य-कर्म, करके आसन पर तपोमूर्ति फिर जा बैठी
प्रणय-प्राण-सी ध्यान-सिंधु में थी मानों प्रतिमा पैठी
लघु-लघु लहरों के कंपन में क्षण-क्षण था कटता बीता
चकित चेरियाँ देख रही थीं, सीता-सी बस थी सीता

दूसरा सर्ग

१

वृक्षावली विलसती पाकर सिंधु-समीर सलोना,
भरा प्रसूनों से रहता है प्रकृति प्रिया का दोना।
ावस आकर पहना देता हरित रंग की साड़ी,
जवंती ललना-सी लगती धानी धरा पहाड़ी।

२

ल के दल बादल आते हैं घोर घमंड घुमड़ते,
ागर के सीकर हैं मानों धरे उमंग उमड़ते।
थन-सा होता है नभ में नीरधि दहला जाता,
वंस्मृति से मानों उसको कंप-ज्वर चढ़ आता।

३

देही के हृदय-सिंधु में होता है जो मंथन,
सके आलोड़न में पड़ वह पाती कोई पंथ न।
द्युत की कड़कन में मानों धड़कन वही उठाता,
यानल की लोल शिखा की रसना को लहकाता।

४

श्यामघटाओं की माला घिर है जब झड़ी लगाती
घन-श्याम की छवि-सी जब कुछ उसका हृदय जुड़ाती
पंचवटी में प्राण भटकते तब उस विरहजली के
रघुवर की चिंता में डूबी विकला जनकलली के।

५

छोड़ गये होंगे, हतभागी उस कुटिया को नाथ कहीं,
कुछ वृत्तांत पड़ा दुखिया का होगा उनके हाथ कहीं।
किंतु गगनगामी स्यंदन की दिशा मात्र बतलाने से,
क्या अरण्य का शोध लगेगा बिना किसीके जाने से?

६

लगती सुध तो प्रलय-मेघ भी बाधा बने न रह पाते,
अपराधिनी अभागी का वे संकट कभी न सह पाते।
चतुर्मास में छाया होगा कहाँ पर्णगृह, कौन कहे,
तप्त तेल-सी इन वारिद की बूँदों से तन क्यों न दहे।

७

पावस तेरी हरियाली से होते हैं मन हरे हरे,
विरही जन के मन रहते हैं, किंतु सदा ही डरे डरे।
मत्त मयूर, मयूरी उनके मन को नचा न पाते हैं,
इठलाते बल खाते नाले दुख से बचा न पाते हैं।

८

निकल पपीहों के कंठों से उनकी प्यास सुखाती तन ;
हूक वेदनाओं की उठकर देती त्रास, दुखाती मन।
शीतल पवन तीर-सा लगकर देता मर्मस्थल को छेद,
नहीं चैन लेने देता है शल्य शूल का उसे कुरेद !

९

दंडक वन में उत्पातों से होगा हृदय हिलाता तू,
हाय ! वियोगी प्रभु के मन को मथकर वहाँ सताता तू।
हरित तृणों की विपुल बाढ़ से रुद्ध मार्ग होंगे सारे,
वनवासी भी राह न पाते होंगे काँटों के मारे।

१०

झंझा के देता होगा तू झटक झटक कर झकझोरे ;
निबिड़ तिमिर में छिपा भानु को, जल में जंगल को बोरे।
दम्भ दिखाता होगा अपना खद्योतों की फुदकों से ;
दर्प दामिनी में प्रकटाता मेघ-ओघ के उदकों से।

११

बूंदों की चोटों से करता होगा शैलों पर आघात,
होता है बिछुड़े हृदयों को दुःसह जिसका वज्र-निपात।
वैदेही बैठी उपवन में, जिसे सँवार रहे माली ;
वहाँ कंटकित वन में प्रभु की कुटी लुटी पर्णोंवाली !

१२

शोकनिमग्ना लीन हुई वह प्रभु के चरण-सरोजों में,
ध्यानस्थिता, दृष्टि को बाँधे, अंतस्तल की खोजों में।
उसे देख वर्षा की बूंदें अपनी कलकल रोक थमीं,
नयनों की निर्झरिणी में मिल शोक-सिंधु में डूब रमीं।

१३

निर्मल नभ में शरच्चंद्रिका खेल रही है अठखेली,
तरु-पल्लव के अंतराल से उतर बिहरती अलबेली।
चोंच उठाए इंदु-छटा से सुधा-सार पीती पीती,
निर्निमेष नयनों को खोले चतुर चकोरी है जीती।

१४

सीता के नयनों की पुतली पलक उठाकर झाँक उठी,
स्नेहमयी उस विगहबालिका के मन की गति आँक उठी।
हे चकोरिके ! तेरा जीवन धन्य ! लगी तेरी डोरी,
चंद्र-किरण से पाती है तू आग्न कि अमृत ब्रता भोरी ?

१५

सुनती हूँ है आग दहकती तेरा प्यारा अशन सखी !
है इस निर्मम विधु का भी तो अंग जलाना व्यसन सखी !
जला जला विरहिणियों के तन देता यह अंगार सखी !
या सचमुच ही अमृत पिलाता तेरा सुख-शृंगार सखी ?

१६

कह दे, कर दे किरण-दहन से मेरा भी उपकार शशी,
पर-वशता से मुक्ति पा सके यह दुर्भागी भी विवशी।
आह ! न क्या मेरी विनती पर तूने कुछ भी कान दिये ?
केवल तिरछे देख रह गई मुझको अरी शशांक-प्रिये !

१७

सीता के शशांक ही हैं जब उसके दृग से दूर अहो !
कोमल मन भी क्यों न बनेंगे क्रूर्म-फलों से क्रूर कहो ?
हे अगस्त्य ! तुम दया दिखाते पथ का पानी सोख रहे,
किन्तु, रुके किस बाधा से हैं इस कोकी के कोक रहे ?

१८

धरणी हुई अपंकिल, पथ में नहीं रेणु की भी बाधा।
तो भी क्या प्रभु ने प्रयाण का नहीं मुहूर्त्त अभी साधा ?
धवल-केशिनी वर्षा अपने कासों की धवलाई से,
चंचल खंजन रंजनकारी अपनी चंचलताई से,

१९

फुल्ल कमल सरवर में अपनी निर्मल नीर निकाई से,
मधुकर अपने मृदु गुंजन की परम मनोहरताई से,
क्या न उन्हें उकसाते होंगे शारदीय उत्साहों को ?
खग-कल-गान न क्या फड़काता होगा प्रभु की बाँहों को ?

२०

तड़प तड़प कर मीन नहीं क्या घटते घटते पानी में,
कहती होंगी प्रिय-वियोग की गाथा अपनी वाणी में?
पर, वह मेरी भूल गिनी हो नहीं क्षमा की अधिकारी,
तो निस्तार न कोटि कल्प भी पा सकती यह अविचारी।

२१

बीती बीत चुकी, शरण्य भी तो हो तुम ही एक प्रभो!
अशरणशरण! निभानी ही है इस दुखिया की टेक प्रभो!
मर्म-क्षत मिथिलेश-सुता के शूल हूलती थी शंका,
उसे शून्य में लिये शोक में स्वयं झूलती थी लंका।

तीसरा सर्ग

१

स्वर्णलता लिपटी रसाल से महक रही अमराई,
मृदुस्पर्श मुग्धा का मानों पा पुलकी तरुणाई।
लंकानाथ विहार कर रहा अंतःपुर-उपवन में,
बिछा पाँवड़े वसुधा फूली सुमन-समूह सघन में।

२

मंदोदरी मनोज्ञ वसन में सस्मित आननवाली,
रूपराशि की छवि छहराती चलती चाल मराली।
मानों रति रमणीय वेष में मनसिज का मन हरती,
अपनी मंजु माधुरी से है पुलक अंग में भरती।

३

स्रोतस्वती सलिल-धारा में लोहित, नीले, पीले,
मणिखंडों को लहर लहर कर करती रंग-रँगीले,
मदिर मदिर गति से बहती है उसके एक किनारें,
मंदोदरी-मनोहर के मन भाव जगाती न्यारे।

४

रत्नाकर के ऊर्मि-पाश में करती जा आलिंगन,
सलिल-माधुरी पर मँडराता किसका मानस-भृंग न ?
हृदय-तरंग तरंग-जाल में मिल मोती प्रकटाती,
सागर का सामीप्य प्राप्त कर शांति सलिलगा पाती।

५

कंचन-वलित पीठिकाओं पर चित्रित-मयूर मनोहर,
चारु चंद्रिकाओं पर फिरते रुचिर रुचिर हैं रवि-कर।
बैठ जहाँ दशमौलि प्रिया की मधुरालाप-सुरा से,
सुख-विभोर है, विहँस विहँसकर मिलता धर्म-धुरा से।

६

सहसा एक विचित्र वेग से नेत्र उठ गये ऊपर,
और भ्रमित-से धीरे धीरे उतर टिक गये भू पर।
मयतनया ने प्रेम-रंग को फीका पड़ते देखा,
देखी फिर अभाव की मानों खिंची भाल पर रेखा।

७

पाणि-स्पर्श किया मस्तक पर, बोली, "नाथ ! हुआ क्या ?
किसी गभीर विचार-व्यथा ने मन को नाथ ! छुआ क्या ?"
रावण शांत-स्वर में बोला, "वही व्याधि है उभड़ी,
घनीभूत होकर मानस पर मानों घिरती घुमड़ी।

८

वैदेही का मन है मुझसे अब तक गया न जीता ;
पड़ा हुआ है प्रिये ! अभी तक मंजु मनोरथ रीता।
है त्रिलोक-विजयी की आशा हुई न अब तक पूरी,
क्या वह यों ही रह जायेगी फल से हीन अधूरी ?"

९

तभी एक सेवक को लंकेश्वर ने त्वरित पुकारा,
प्रणत हुए उस दनुज-दास ने हो कर-बद्ध निहारा।
"जाओ, अभी बुलाकर लाओ त्रिजटा जटाधरी को,
वायु-वेग से जा, विदेहजा की प्रवीण प्रहरी को।"

१०

राक्षसेंद्र के क्षुब्ध हृदय को मयजा ने अवलोका,
तुंग तरंगावलित विलोका वात-चक्र का झोंका।
पल्लव-पाणि पाणि में देकर, बोली वह सुविनीता,
"नाथ ! सोचिए तो सीता है राघव की परिणीता।

११

उसे हरण कर लाना ही क्या शोभित लोक-जयी को,
फिर संतापन से पिसवाना दग्धा शोकमयी को ?
शंकर के प्रियभाजन जन को क्या अभाव है ? किसका
बल है उसकी गति को रोके, क्या प्रभाव है किसका ?

१२

अबला की दयनीय दशा पर प्राणेश्वर-सा ज्ञानी;
कोपानल में पड़ क्या होगा नहीं अभय का दानी?
बलवानों की बड़ी दया के पात्र दीन ही होते;
देख नहीं सकता उनका मन किसी दीन को रोते।

१३

अबलाओं की लाज उन्हींसे रक्षित रहती जग में,
पग पग दर्शक बनता उनका मर्यादा के मग में।
क्यों वियोगिनी पर-नारी के तन पर लुब्ध हुए प्रिय!
किस कंटक से बिना बात ही इतने क्षुब्ध हुए प्रिय!"

१४

"रिपु-रमणी का हरण अशोभन क्यों वरानने! माना?
क्या न ननंदा पर अनीति का दुष्प्रहार पहचाना?
अबला पर ही अस्त्र चलाना, जिसका पहला कौशल,
किस करुणा का पात्र भला हो, कहो न वह तापस छल?

१५

भगिनी को अपमानित करने में थी क्या मानवता?
उसे सहन क्षणभर को भी क्या कर सकती दानवता?
शक्तिवान ही तो होता है सुंदर का अधिकारी,
लाया छीन शक्ति से सीता, हुई रीति क्या, न्यारी?

१६

रक्षोपति की गर्व-गिरा सुन मयतनुजा ने जाना,
छद्म-यती बन त्याग चुके पति शील-धर्म का बाना।
उत्तर देने ही को थी, पर झुकी लाज की मारी,
इतने ही में त्रिजटा को ले आ पहुँचा प्रतिहारी।

१७

चिंतित स्वर में निशाचरी से असुराधिप यों बोला,
"त्रिजटे! क्या वैदेही ने कुछ अपने मन को खोला?
क्या कुछ दया-भाव दिखलाया उस अचला-तनया ने,
लक्ष्य बनाया जिसे तुम्हारी माया की मृगया ने?"

१८

"रक्षोराज! विदेहराज की सुता विदेहमयी है,
भुवनसुंदरी सुकुमारी वह अद्भुत आत्मजयी है।
सेवा, स्नेह सहानुभूति में, त्रास, ताप में सम है,
देखा नहीं कहीं उस मृदुला में जैसा संयम है।

१९

भौतिक भोग न भुला पा रहे उस पति-व्रत-निरता को,
कायिक क्लेश न हिला पा रहे उस सुख-दुख-विरता को।
विद्या, कला, मोहिनी, माया सभी हमारी निष्फल,
उस मृगनयनी की निष्ठा है ध्रुवतारा-सी अविचल।

२०

उसे प्राण का मोह नहीं है, त्राण न उसको वांछित,
अपने प्रभु के प्रिय दर्शन को रहती बस आकांक्षित।
नारी का मन वश करने में न्यून न कला हमारी,
किंतु, नहीं हे दैत्य-शिरोमणि ! वह साधारण नारी।

२१

सोने के पिंजड़े में बैठी मानों वह चकवी है,
उड़ने को ऊपर विस्तृत नभ, टिकने को पृथवी है।
खुलने को भवितव्य-द्वार की सतत प्रतीक्षा करती,
एकांतिनी अदीन भाव से भाग्य-परीक्षा करती।

२२

मन खुलने की बात कहूँ क्या, वह तो सदा खुला है,
उसमें कपट-कपाट नहीं हैं, सीधा, स्वच्छ, धुला है।
दासी का अपराध क्षमा हो, वह न अहेर-कुरंगी,
उसे न वश में ला पायेगी दुर्दम नीति दुरंगी।

२३

आँखों में है तेज, तेज में सत्य, सत्य में ऋजुता,
वाणी में है ओज, ओज में विनय, विनय में मृदुता।
कृश काया में है दधीचि के वज्र-तेज की ज्वाला,
प्रेममूर्ति है, तपस्विनी है, विलक्षणा है बाला।"

२४

मौन हुई त्रिजटा इतना कह, दैत्यराज की भृकुटी
तनी, तने आरक्त नेत्र, थी दृष्टि जा लगी त्रिपुटी।
अपने पर, सीता के हठ पर एक बार झुंझलाया,
बोला, "त्रिजटे! रात-रात में पलटो उसकी काया।

२५

कल मैं आकर स्वयं देख लूँगा सब उसके लक्षण,
देखूँगा किसके बल पर है बैठी बनी विलक्षण।"
नतमस्तक हो त्रिजटा लौटीं, उपवन मानों सूना,
दश-ग्रीव के मस्तक को था व्यग्र बनाता दूना।

२६

"कठिनाई क्या है प्राणेश्वर! करिए इतना खेद न,
सुनिए कांत! शांत मन से कुछ मंदोदरी-निवेदन।"
कहकर पादप्रणत हो मयजा बोली गद्गद वाणी,
श्रुति-सुखदायक, मनोहारिणी, गौरविणी कल्याणी।

२७

"शूर्पणखा के साथ हुआ जो, था वह उचित अनर्थ न,
कोई भी निष्पक्ष करेगा उसका नहीं समर्थन।
किंतु, बहिन ने अनाचार क्या किया न पता लगाया,
क्यों उसने उस तपोलग्न में अनुचित रोष जगाया?

२८

नारी का आभूषण लज्जा छूट जाय जब कर से;
प्रमदा बने प्रगल्भ, करे संभाषण जा पर-नर से।
भरे रोष में, करे आक्रमण; बल के मद में भूले,
तो नर भी कर ही बैठेगा जो उसको अनुकूले।

२९

दानव हो कि दानवी दोनों में है हिंसा-ममता,
सहज क्रूरता के वश करते वे क्या नहीं विषमता?
जा निशीथ के अंधकार में निर्भय बने विचरते।
नराहार करते हैं रुचि से, कपट वेष हैं धरते।

३०

दंडक वन में अति कर दी है उनके उत्पातों ने,
भीत बना डाला है अकरुण कर्मों के ताँतों ने।
अत्याचार सहन करने की भी होती है सीमा,
दुर्बल ही मिल, कर देते हैं दमन-चक्र को धीमा।

३१

खर, दूषण, त्रिशिरा का वध है जिसने किया अकेले,
दारुण दानव-शूरों के शर वक्षस्थल पर झेले।
निर्भय शार्दूल-शावक-सा फिरता काननचारी,
कोरा तापस नहीं नाथ! वह है कोई अवतारी।

३२

मानव नहीं, महामानव है, वीर आत्मविश्वासी,
शत्रु नहीं है, सत्य मित्र है, जग-हित-हेतु उदासी।
सीय-स्वयंवर में था उसने जो कौतुक प्रकटाया,
क्या न अलौकिकता का उसमें अंश नाथ ने पाया?

३३

उसी सिया को हर लाये पति! जाकर चोरी-चोरी,
सिंहद्वार भंजन करते जो नहीं निरखते मोरी।
वह कुछ करने को निकला है जीवदया से प्रेरित,
ताप-प्रपीड़ित आर्त्तजनों की आर्त्ति मिटाने के हित।

३४

सीता साथ चली है, प्रतिमा सेवा, दया, क्षमा की,
उसकी मुद्रा में गोचर है प्रतिभा शिवा, रमा की।
लौटा दो, हे नाथ! रीझना पर-नारी पर दूषण,
महामनस्वी, परम यशस्वी हो रक्षोकुल-भूषण!

३५

चले जायँगे किसी दूसरे आश्रम को वनवासी,
अधन, अकिंचन, संतोषी हैं, हैं वे विश्व-उपासी!
फिर भी शत्रु-भाव दिखलायें तो ये बीस भुजायें।
कौन बली है जिसके ऊपर जाकर वज्र न ढायें?'

३६

प्रेम-स्पर्श प्रिया का करके बोला तब रक्षोवर,
"मय-संभवे ! सहज नारी का प्रकट किया तुमने डर।
राजकुलों की, राजनीति की, राजशक्ति की गति में,
सदा बुद्धि-कौशल चलता है राजमंत्र की मति में।

३७

अपमानी का मान-हरण है नीति-विधान निराला,
कूट-कला से ही जाता है उसका घेरा डाला।
मेरी भगिनी को खदेड़कर दे जो मुझे चुनौती,
क्या मैं करने को बैठूंगा उसकी कभी मनौती।

३८

लेना ही प्रतिशोध धर्म है अपने अपकारी से,
साधु-वेष में छिपे नाग-से, उस कपटाचारी से।
सीता है संपत्ति राम की, उसे हरण कर लेना,
राजधर्म है, रिपु की लक्ष्मी छीन वरण कर लेना।

३९

प्रतिहिंसा का ही प्रयोग था मायामृग की रचना।
बने जहाँ तक अच्छा ही है रक्तपात से बचना।
महा सुभट रावण से भिड़ना, साहस लघु तापस का।
डरते सभी सुरासुर जिससे, क्या वह उसके बस का।

४०

किंतु, यती का वेष बना जब पहुँचा पंचवटी में,
पर्णकुटी की शोभा देखी गोदावरी-तटी में।
जहाँ प्रकृति की सुषमा मानों राशि-राशि बिखरी थी,
विधि की कला स्वयं सीता में सिमट-सिमट निखरी थी।

४१

'यतिवर ! बैठो' कहकर उसने जब था शीष झुकाया,
उस मुद्रा में देखी मैंने अतुल प्रभा की छाया।
रूप रूप था, किंतु तेज में तीव्र एक संमोहन,
करता था अपने प्रभाव से मेरे मन का दोहन।

४२

मन में विनत, किंतु ऊपर से था मैं भीषण योधा,
मानी उसकी एक न, यद्यपि उसने बहुत प्रबोधा।
बलपूर्वक ले आया उसको, वंदी भी है मेरी,
भुला रही है त्रिजटा उसको, निभा रही हैं चेरी।

४३

किंतु उसीकी दया-मात्र का बनकर एक भिखारी,
चाह रहा कल्याण-मार्ग का बन जाऊँ अधिकारी।
हठी हो रहा है मेरा मन उसको अपनाने को,
श्रद्धा से, शठता से किंवा वश में ले आने को।"

४४

"कंत ! सत्य ही तेज एक है भरा विश्व-नारी का,
अद्भुत है आदर्श साथ ही तापस की प्यारी का।
उसमें ममता किसे न वांछित, किंतु मूर्ति माता की,
नारी ही है शक्ति स्वयं इस संसृति के त्राता की।

४५

कभी न पर-नारी-ललाट विधु होता मंगलदाता,
चंद्र चतुर्थी का गिन उसको तज देते हैं ज्ञाता।
सीता को संपत्ति न मानें, शक्ति राम की जानें,
अर्धांगिनी, संगिनी, भामा एकरूप अनुमानें।

४६

शीत-निशा की शीतलता-सी सीता अपने घर को
चली जाय, कुल-कमल हमारा रहे खिलाता सर को।
सोने की लंका नगरी है तीन लोक से न्यारी,
उसे देखते हैं विस्मय से वसुधा के नर-नारी।

४७

होते हैं अपशकुन यहाँ है आई जबसे सीता,
दुःस्वप्नों को देख देख मैं होती नाथ ! सभीता।
ढाढस देकर मयतनया को बोला तब अभिमानी
"अपशकुनों के भय से कंपित क्यों रावण की रानी।

४८

जो शंकर का कृपापात्र है, शिर कटना शुभ जिसको,
उसे छोड़ तुम बली विश्व में मान रही हो किसको?
चलो, कौमुदी खिली व्योम में चमक उठे हैं तारे,
अंचल में विधु को ले आई रजनी घूंघट मारे।"

चौथा सर्ग

१

स्वागत की सज्जा से सज्जित रक्षक दक्ष खड़े हैं,
वंदी के आवास मार्ग में पट-पाँवड़े पड़े हैं।
चेरी-दल में चहल-पहल है, चेतन फिरते माली,
पल्लव और प्रसूनों से है सु-प्रसन्न वृक्षाली।

२

मुकुलित कमल जगे हैं सर में उत्सुक नयन उठाये,
करते हैं कल गान विहंगम ग्रीवाएँ उचकाये।
नाच रही हैं सरित्स्रोत में छप-छप चंचल लहरी,
कल-कल जल टकराकर तट से ताल दे रहा गहरी।

३

दानवेंद्र आया अशोक वन को है धन्य बनाने,
सहज सुकोमल साध्वी सीता को दुर्दैत्य मनाने।
संग-संग हैं चली जा रहीं गज गति से पटरानी,
चलता उनके बीच झूमता भट रावण अभिमानी

४

है अशोक के तले शिला पर कुशासनस्था सीता,
प्रभु के पद में लीन किये मन, निज-पद-नयन विनीता।
निराभरण क्लेशित काया में धूसरिता-सी मणि-सी;
वैठी मौनाराधन में रत है मानवता की खनि-सी।

५

भल रहा दैत्येन्द्र देखकर है अपनी दानवता;
उसके मन पर हाथ रख रही है मानों मानवता।
चकित रानियों ने सीता की देखी आकृति भोली,
जिस आकृति में जगमग जगती ज्योति एक अनमोली।

६

"यही याचना केवल सीते! मेरी ओर निहारो,
बीती बातों का विधु-वदनी! सोच न करो, विसारो।
हेमपुरी का इंद्र दशानन माँग रहा है भिक्षा,
कृपाकोर से हेरो, कर दो पूरी उसकी इच्छा।

७

र लोगी स्वीकार विनय तो मेरा भार हरोगी,
नी ये अनुचरी वनेंगी, चिर-सुख-भोग करोगी।
प नहीं, यह हृदय चाहता, जिसे न पहले देखा,
त खोजने पर भी मुझको मिला न जिसका लेखा।

८

विकसित वदन विलोक मनोरथ होगा मेरा पूरा,
अतुल राज्य का शासन भी है जिसके बिना अधूरा।
रक्षोपति ने अति विनम्र हो थी यह गिरा उचारी,
यों दुर्मति ने साम, दाम की पकड़ी नीति दुधारी।

९

पलक झुकाये ही सीता ने कहा, "सुनो लंकेश्वर!
सीता के मन के विकास की ज्योति एक लोकोत्तर
विश्व-हृदय ही है सीता, बस राम एक हृदयेश्वर
मंगल-भवन राम का अनुगत है सीता का अंतर

१०

ज्योतिरिंगणों की रुचि से क्या मुकुलित होती नलिनी?
रे दशमुख खद्योत! राम रवि, सीता सतत कमलिनी।
विकसित उसका हृदय उसी रवि की किरणों से होता
किंवा विरह-तमिस्रा के ही अंधकार में सोता

११

है रघुवीर-वाण की ज्वाला जान न पाई तूने,
सूने में अबलापहरण कर की अधमाई तूने
रे निर्लज्ज! बिछाता फिर भी जाल, चला चतुराई
मद में अंधा बन, न देखता आगे गहरी खाई

१२

क्रुद्ध हुआ रावण, कटि से असि थी चपला-सी चमकी,
"धड़ से भिन्न शीष कर दूँगा," बोला देकर धमकी।
"करती है अपमान सुरासुर-विजयी का ओ अबले!
आज्ञा मान अभी दुर्वचने! कवल काल का धवले!"

१३

"शठ किसको कृपाण दिखलाता जान अकेली नारी,
सती-साध्वियों की असि-धारा सदा सहेली प्यारी।
प्रभु के महा विशाल बाहु या शित कृपाण का पानी,
दो ही कंठ छू सकेंगे, सुन प्रण मेरा अभिमानी।"

१४

आँख निकाल वेग से दौड़ा, पर तलवार न छूटी,
हाथ पकड़कर आगे आई मयजा वीर-वधूटी।
"नाथ! नहीं यह शूर धर्म की शोभा, बस, रुक जाओ,
वीरों का सम्मान समझ कुछ अबला से झुक जाओ।

१५

लंका को लज्जित न करो पति! रक्षोकुल-यश-सौरभ
मंद न पड़े, कलंक-कर्म से घटे न उसका गौरव।
निःसहाय नारी का वध! जो वंदी दूर स्वजन से,
फैलेगा अपलोक लोक में अकरुण हीन हनन से।"

१६

इस विध मृदुवाणी से उसने चढ़ता रोष उतारा,
तब रावण ने राक्षसियों को त्रिजटा-सहित पुकारा।
"उत्पीड़न उत्पात, उपद्रव, त्रास, ताप से घालो,
भीषणता, भय, क्रूर वेग से इसका गर्व निकालो।

१७

एक मास के भीतर इसने मेरी बात न मानी,
तो कृपाण के घाट पिला दूंगा मैं इसको पानी।"
दे आदेश गया लंका को वह कठोर संतापी।
पत्ता पत्ता था आतंकित, वनस्थली थी काँपी।

१८

यातुधानियाँ जीभ निकाले, भुजा तान, मुँह बाये,
होठ चबातीं, लपलप करतीं, दौड़ीं हाथ उठाये।
शूल किसीके, शक्ति किसीके, गदा किसीके कर में,
प्रत्यंचाएँ चढ़ी चाप पर, अनी नुकीली शर में।

१९

नोंच किसीने, खोंस किसीने शूल चुभाये तन में,
संज्ञाशून्य विदेह-सुता थी पड़ी सशोकित वन में।
निद्रा के अंचल में सोयी पिता विदेह विलोके,
हिलते होठ, काँपती ग्रीवा, अश्रुबिंदु दृग-रोके।

२०

सीता बोली, "तात ! स्नेह में पली तुम्हारी बेटी,
पड़ी पापियों के कर में है रही भाग्य की हेटी।
गई श्वसुर-गृह पुत्रशोक में वे परलोक सिधारे,
आर्यपुत्र भी फिरते हैं हा ! वन में मारे मारे।

२१

यहाँ पिशाची प्राण ले रहीं, फिर भी हूँ मैं जीती,
किस अभाग्य से ? जाने विधि ही जैसी कुछ है बीती।
महादैत्य निर्लज्ज दशानन है दुर्वचन सुनाता,
अंत करेगा एक मास में खल, सुर-मुनि दुखदाता।

२२

ये नहीं दुष्ट-वध करने, जाने कहाँ खरारी,
र-दूषण-त्रिशिरा-वधकारी, भीषण धन्वाधारी ?"
ले तब अवरुद्ध कंठ से मिथिलापति भर हिलकी,
टी ! सुध रखते हैं रघुवर पल पल की, तिल तिल की।

२३

, विधि के विधान की लीला रही अदृष्ट सदा है,
े भोगना पड़ता है, जो जिसके भाग बदा है।
ा धरित्री ने ही मुझको तुझ-सा रत्न दुलारी !
उसका ही दुःख मेटने सहती संकट भारी।

२४

भवितव्यता निमित्त बनाकर लाई तुझे यहां है
बेटी ! बाल न बांका होता हरि का हाथ जहां है
पीड़ा में ही बल है दुहिते ! प्रभु को प्रकटाने का
संतापी पापी के मद की प्रभुता विघटाने का

२५

एक विपत्ति पड़ी थी जब था मैंने हल को जोत
वसुधा से तेरा शुभ दर्शन पाया संकट खो
शिव का धनुष प्रथम तूने ही बेटी ! क्या न उठाय
तेरे ही कारण प्रण मेरा प्रभु ने आप निभाय

२६

पड़ी अयोध्या पर भी आकर बड़ी विपत्ति सही है
पर, दुष्टों के संतापों से पिसती आज मही
उसके ही उद्धार-हेतु हैं राम विपिन में आ
शक्तिस्वरूपा पुत्री ! तुझको स्वयं संग हैं ल

२७

लंका का कालुष्य मिटाने तेरा तप था वांछि
मत समझे तू होगी जग में इस प्रवास से लांछि
पृथ्वी की आकांक्षा ही तू पीड़ा सहने अ
महत्कार्य में महाशक्ति ही होती सदा सह

२८

तुझे ताप देकर घट अपना भरता जाता रावण,
विधि-विधान है तेरे कारण होगी मही अरावण।
चित्रकूट में देख तुम्हारे तपोवेष मेरा मन,
रोया था अवलोक युवावस्था का वह परिवर्त्तन।

२९

किंतु, विश्व के हित-साधन का मार्ग वही था जाना,
हो अभिराम राम को जो; बस वही सत्य है बाना।
पीड़ा-भूमि जहाँ पीड़क की उसी क्षेत्र में जाकर,
पीड़ित होकर हरता पर-दुख पीड़ाहर करुणाकर।

३०

अस गुण का जागरण व्यक्ति में बाल-काल से होता,
[illegible]स्तल में रहता बहता इस करुणा का सोता।
[illegible] का तथा वर्ग का इसमें भेद न होता कोई,
[illegible]वन धन्य उसीका जिसने भव की पीड़ा खोई।

३१

[illegible]थिला में कहलाता हूँ मैं ज्ञानी और विरागी,
[illegible] विवेक की ज्योति जनक की पुत्री में ही जागी।
[illegible]ों कुल को धन्य किया है तेरी पावन मति ने,
[illegible] तपाकर सुयश लिया है मानों विधि की गति ने।

३२

मंदभाग का नहीं, भाग्य का ऊँचा तेरा तारा
लाया है दिखलाने को यह कष्ट, क्लेश की कारा।
अति होती है तभी आर्त्त को प्राणदायिनी वेला
शुभ्र प्रभात-पटी पर अपनी करने लगती खेला

३३

कहते हुए विदेह देह में फूले नहीं समाये
सुता-स्नेह में मग्न शीष पर दोनों हाथ बढ़ाये
लज्जा से संकुचित जनकजा गुड़िया-सी मुख खोले
पड़ी तात की गोदी में थी ममता का मधु घोले

३४

आँख खुली, सीता ने देखा पुलक प्रभात-पटी
जनक-गिरा का चित्रण करती संमुख नियति-नटी
अंतर्द्वंद्व विचार-धरा पर लगा स्वतंत्र विचर
कभी सदाशा से दुख हरने, कभी हृदय को भर

पाँचवाँ सर्ग

१

दिन ढल रहा, व्योम में मदिरा ढाल रही अरुणाई,
पुलिनों के रजकण, जलकण में राज रही रुचिराई।
किरणों के किरीट से मंडित पादप-शिखा नवेली,
संध्या के प्रांगण में करती मलयानिल से केली।

२

[illegible]ीड़ों को उड़ती उत्कंठित विहगवृन्द की पाँती,
[illegible]त्र विचित्र विलसती नभ में गीत मनोहर गाती।
[illegible]ींच रही मंडल मंडल बन बहुधा मंजुल रेखा,
[illegible]यन उठा सीता ने नभ का अद्भुत रंजन देखा।

३

[illegible]ती पंख स्वयं भी उड़ती नीड़ कहीं तो पाती,"
[illegible]च सोचकर भर लाई वह अपनी कंपित छाती।
[illegible]म नेत्र फड़का, सहसा थी सावधान वैदेही,
[illegible]सा लगा, आ गये मानों रघुवर सत्य-स्नेही।

४

निशि का स्वप्न पिता की धीरा गिरा ध्यान में आई,
दृढ़विश्वासी अपने मन में नव साहस भर लाई।
पेड़ों पर हिलते पत्तों में प्रभु-कर हिलते देखा,
काँटों में खिलते पुष्पों में प्रिय-मुख खिलते देखा।

५

तटिनी-तट-पाषाण-पुंज पर पय-कण चढ़ते देखे,
ठोकर ठोकर से गति पाते, छल-छल बढ़ते देखे।
भूल गई क्षण भर को अपने तप्त अंग की पीड़ा
कंटक-वन को कांत कर रही थी निसर्ग की क्रीड़ा

६

मानों कहती थी सौरभमय पुष्प जहाँ जो मिल
कंटक-जालों में ही उनके मृदुल कोष हैं खिल
कष्टों की शय्या पर सोना तन में तेज जगाद
वही मनोभावों में महती मनुज-भावना लाद

७

सहसः चौंक चेरियाँ दौड़ी, "यह शाखामृग-छौ
संध्या की लाली में लाया मुख की लाली लौ
चपल चलाता है अंगों को कितने प्यारे-प्य
लुभा रहे हैं लोचन, इसके लोल लोल दृग-ता

८

कुदक कुदक फिरता तरुओं पर, छूता नहीं फलों को,
आँख गड़ाकर देख रहा है शोभा-भरे दलों को।
अपनी माँ से बिछुड़ा-सा है फिरता इधर उधर को,
विस्मित है पाकर इस अनुपम वन के कौतुक-घर को।

९

चलो पकड़ लें, बालवृंद की होगी इससे खेला,
इसे निरखने को लंका में लग जावेगा मेला।"
झपट एक ने डाल झुकाई, उचक दूसरी उछली,
आते आते हाथ रह गई पतली, छोटी पुछली।

१०

मर्कट-पोत मचकता ऊँचा चढ़ा, लगीं खिसियाने,
खर[illegible]की देकर विटप हिलाता वह भी लगा डराने।
ह[illegible] मिल मिलकर विकट मुखों से उसको फिरीं भगाती,
कृप[illegible], ऊपर वृक्ष वृक्ष के अद्भुत शोर मचाती।

११

र[illegible]हल का, कोलाहल का दृश्य विचित्र बना था,
[illegible]-पोतक भी अविरत श्रम से देखा श्रांत घना था।
[illegible]दैयिनी ने तब उसको पकड़ अंक में डाला,
[illegible] आईं फिर सभी ओर से सचकित दनुजा-बाला।

१२

कोई कर से कच सँवारती, कोई होठ जुड़ा...ीं,
कोई थपकी दे दुलारती, कोई पलक डुला...
अपने दल की ओर खींचती हाथ पकड़कर क...
छाती से चिपटाती जाती अंग जकड़कर क...

१३

कोई फल से भरा सामने रख देती थी द... उ
चैन नहीं लेने देती थीं, कपि था एक खिलौ...
शिथिल अंग सोता-सा मानों पड़ा बलीमुख-ने... क
मन ही मन कुछ सोच रहा था मृदुल क्रोड़ में ले भी...

१४

सीता की समाधि भी उनके कोलाहल से छू उठ...
इतने में ही कीश-पुत्र को लाई एक कल्लल...
सीता के आगे रख बोली, "छवि निरखो हे रानि...
इस वानर-छौना की कैसी आकृति है सुखदा...

१५

कीश-तनय ने खोल दृगंचल माँ के दर्शन कि...
पद-पद्मों में दृष्टि लगा फिर अपने नयन जुड़ा...
फेरा हाथ विदेहसुता ने शिर पर, तब बँदर...
पुलके रोम, हृदय था शीतल, भाव खिले अंतर पर...

१६

ठीं, "इस विथकित बच्चे को अधिक न और सताओ,
ने दो अपने मारग को करुणा कुछ दिखलाओ।"
बिचकाती एक पिशाची शीष हिलाती बोली,
ज्जित होगी इस प्राणी से कौतुक-गृह की टोली।"

१७

उठाकर फिर उछालती, कर से कर में देती,
कंदुक की क्रीड़ा का सुख अपूर्व थी लेती।
का रक्त बिंब भी कपि को देख सिहाया तन में,
भी था प्रसन्न कौतुक से अति ही मन ही मन में।

१८

उछाल मिली ऊँची-सी, विटप-डाल पर कूदा,
ल्लव ने, निशा-तिमिर ने शिशु के तन को मूँदा।
रानियाँ रहीं टोहती कपि का पता न पाया,
पकड़ने का ही निर्णय तब ठहराया।

१९

क्रूरता, हिंसा, हत्या नाम-भेद हैं केवल,
छिपा हुआ है मानव के मन का मल।
में मोद मनाना, कैसी हीन दशा है,
प्रभुता का फिर भी चढ़ता एक नशा है।

२०

वे निरीह प्राणी भी, जो हैं दया, प्रेम के ी ह
सतत सताये जाते, आती त्रासक को कुछ क्की
तर्क-तुला पर अपनी अपनी गति से मति को वृ
उपज रहे कौटिल्य, चढ़ाये जाते हैं बलि म-प्र

२१

है जगती की जागरूकता में उलटी गति नि
अमल अहिंसा त्याग, मलिनतम हिंसा में रति ना
वध से पृथ्वी पाट प्रगति-पथ खोज रहे हैं है
अधर अधर में गूंज रही है 'त्राहि-त्राहि' की दो

२२

सीता के मन में उद्वेलन उठा, आगई ि
बोली, "धृष्ट दासियों ने क्या हृदय क्षोभ से !
"नहीं, उठा करते हैं यों ही संध्या-भाव लि
जग की लीला सोच रही थी," था सीता का

२३

"त्रिजटे ! आकुल मन को देकर धैर्य बचाओ
त्याग सकूं इस अधम देह को युक्ति बताओ
दुःसह विरह सहा जाता है अब न, अंग
क्या न हुए हैं चेरी-दल के त्रास अभी

२४

ी हो तुम, क्या विपन्न नारी को हाथ न दोगी ?
कीकी अल्प याचना में भी क्या तुम साथ न दोगी ?
को कृपाण-कर्त्तन से पहले यह ग्रीवा न गिरेगी ?
लि म-प्रतिष्ठा के हित कोई घटना क्या न फिरेगी ?

२५

गति निष्प्राण देह की मिट्टी बिगड़ेगी इस वन में ?
ति नारी की लज्जा का सम्मान नहीं तव मन में ?
हैं है तो ग्रीवा में पत्थर बाँध डुबा दो जल में,
की दो यह उपकार, सुला दो तन अनंत के तल में।

२६

ई ा काष्ठ मँगाकर मेरी चिता बना दो प्यारी,
से ं ! कर-कमलों से धर दो उसमें लघु चिनगारी।
व ल जाऊँ, त्रास तुम्हारा पूरी आहुति पा ले,
का को कल्याण-प्राप्ति का मार्ग न यह, क्या बाले ?"

२७

ओर हुई त्रिजटा तब बोली, "बुद्धिमती वैदेही,
अ त्रिलोक का त्रासक शासक रावण दुष्ट-स्नेही।
ा ाशा होने को आई, यहाँ कहाँ चिनगारी ?
तव ा भी ग्रीवा में कैसे बाँधूँ हे सुकुमारी ?

२८

नारी का अपमान सह रहीं नारी हम विवशी
लज्जित भी निर्लज्ज निरखती लंका में कुदृक-
धीरे ! धैर्य न छोड़ो, नारी अबला ही सबलभु
अपना बल अर्पित करके ही बनती वह प्रबलधार

२९

इतना कह वह गई धाम को, निद्रा वन में हि
उदित हुआ तब शून्य लोक में श्वेत शीतकर
टप टप जनकनंदिनी के थे आँसू धरा भि
उसकी दुर्वह दशा देख थे भूधर, निर्झर तव

३०

सरिताओं की सलिल-धार थी द्रवित हृदय का
झर झर निर्झर जता रहे थे उर की करुण क
विटपों से प्रसून, पत्रों के मिस थे आँसू
हो सशोक सब, थे अशोक अवसन्न दिखाई

३१

नभ के नील नयन में बिखरे अश्रुबिन्दु-से
लप-लप करते मर्मव्यथा से आकुल थे अ
श्वास समीर ले रहा था हो उन्मन मंदी
प्रकृति स्वयं ही थी सीता के संवेदन में

३२

वशी कौमुदी की किरणों से आग विलोकी वन में,
दुक-घटा घहराती घुमड़ी व्यथित कीश के मन में।
बल्भु के परम अनन्य भक्त की इतनी कठिन परीक्षा!
बत्धारण जन कर पावेंगे इसकी कहाँ समीक्षा?

३३

में हरि! किस विधान से हरते संकट, ज्ञात तुम्हें ही,
र ती है भक्तों के सुख की, दुख की बात तुम्हें ही।"
भि सोचकर तरुपल्लव से उतरा कीश धरा पर,
र तवदन, जा, नतमस्तक था नीचे पड़ी शिला पर।

३४

का ने संदेह-दृष्टि से देखा, "यह क्या माये!
क काल में मंददृष्टि ही रहते वानर-जाये।
सू कीश है दिन में देखा था जो भोला-भाला।
ई , किसी कामरूपी ने इंद्रजाल था डाला।"

३५

से लिया मुख, सिकुड़ अंग में मानों स्वयं समाई,
अस दुखी होकर तब कपि ने गद्गद गिरा सुनाई—
दी जानकी! पवनसुत हूँ मैं हनूमान प्रभु-किंकर,
में हूँ लंका में निर्भय राम-दूत का व्रत धर।

३६

इन चरणों को सम्मुख पाकर सिंधु-पार हूँ आ
हूँ रघुवीर-दास मैं जननी ! नहीं निशाचर- ह
भालु, कीश प्रभु की छाया में बने संगठित द
प्रभु ने मर्दन किये बालि-से बलवीरों के

३७

चारों ओर शोध लेने को जननी ! दूत ग
सुभट शूर सुग्रीवराज के बली अकूत गये
लंका में इस लघु किंकर ने माँ ! प्रवेश कर
प्रभु प्रताप से, पाकर केवल इन चरणों की

३८

पवनपुत्र की बातों से थी कुछ प्रतीति-सी
सहज सरल वाणी ही उसकी झलक प्रीति की
तो भी शंका रही, न परिचय कुछ प्रत्यक्ष मिल
सीता का मन निज निश्चय से इसीलिए न हिला

३९

"रघुपति की यह मंजु मुद्रिका जननी ! परिचय
सुनते ही सचकित सीता ने पवनतनय को
प्रभु नामांकित निरख मुद्रिका थी द्विविधा में
"माया की कृति नहीं, सत्य कपि ! पर, मति मेरी

४०

वानर का साथ विलक्षण सचमुच मुझे भुलाता ,
होने पर भी लगता यह विचित्र-सा नाता ।"
! तव वियोग में भटके वन वन दोनों भाई ,
के तट पर आये, की सुग्रीव-मिताई ।

४१

न से गिरे तुम्हारे पट उनको दिखलाये ,
अंक रघुवीर उन्हें तब नयन-नीर भर लाये ।
ने अवसर न दिया फिर, शोध लगाते कैसे ?
पर्णकुटी में काटे दिन ये जैसे-तैसे ।"

४२

वैदेही वोली, "कपि ! कृपालु रघुराई ,
अनुज सहित हैं ? दासी की भी सुध क्या आई ?
कठोर इतने वन बैठे, कितना मुझे भुलाया ?
श्रित जन की रक्षा का ध्यान न कुछ भी आया ?

४३

नी वड़ी हूँ तो भी क्षमा न उनकी छोटी ,
ी कृपाकोर के आगे विपदा क्या है खोटी ?
नों की प्यास बुझेगी श्याम मनोहर मुख से ?
अंगों की आग मिटेगी छूट विरह के दुख से ?"

४४

“क्यों उन्मन करती हो मन को जननी! राम दुखी हैं,
दुख में दूना प्रेम हृदय में रखते, कब विमुखी हैं?
कुशल सदा चेरी है उनकी, भय है उनको किसका?
एक वियोग-रोग ने घेरा, मिला उपाय न जिसका।

४५

हैं गंभीर पयोनिधि उनकी थाह न जा[illegible]ती पाई,
गूढ़ व्यथा को एक जानता उनका मन [illegible]ही माई!
उस मन का निवास रहता है तव समीप [illegible] वैदेही!
है संदेश यही रघुपति का, वहाँ निवस[illegible]ता देही।”

४६

सुन संदेश प्रेम में डूबी सीता सुध-बुध [illegible] खोती,
थी आनंद-विभोर, हर्ष के झड़े दृगों से [illegible] मोती।
“मातः! प्रभु-प्रयाण में थी बस सुध पाने [illegible] देरी,
मिटने ही को है वियोग की संकट-निशा [illegible] अँधेरी।

४७

यातुधान-दल फट जावेगा जैसे तम रवि-[illegible]कर से,
यह सुवर्ण की लंका स्वाहा होगी राघव-[illegible]शर से।
कीश-कटक से, भालु भटों के दल से चढ़ [illegible]का पर,
रावण का संहार करेंगे क्रुद्ध राम प्र[illegible]लयंकर।

४८

दे आशीष कहा सीता ने, "भट बलवान यहाँ के,
सुत ! देखे हैं नहीं भूधराकार लड़ाके बाँके।
इन भीमों से भिड़, पावेंगे पार कीश तुझ-जैसे ?
नख, दाँतों के शूर लड़ेंगे शक्ति, शल से कैसे ?"

४९

"इससे भी लघु रूप बनाकर देख चुका हूँ लंका,
जननी ! करो न लघु आकृति से अपने मन में शंका।
पिछली रात घूम लंका की छानी वीथी वीथी,
पाई भक्त विभीषण से ही सुध अशोक वन की थी।"

५०

स्वर्णदेह वज्रांग रूप धर निरभिमान, बलधारी,
बोला वचन अंजनीनंदन सीता को सुखकारी।
"प्रभु-प्रताप से एक एक कपि असुर-काल ही जानो,
माँ ! रावण के सर्वनाश का श्रीगणेश ही मानो।"

५१

हो विश्वस्त, राम की चर्चा सुनी शांत सीता ने,
झाँकी उषा व्योम के पट से, कहा परम प्रीता ने—
"हो निवृत्त, भूखा होगा तू, सुत ! कुछ खा ले, पी ले,
अंग पड़े होंगे कुटिलाओं की क्रीड़ा से ढीले।"

५२

"भूखा तो हूँ बहुत, वृक्ष भी लदे रसीले फल से,
निराहार मैं देख रहा हूँ माँ के व्रत को कल से।
आज्ञा मिले, तोड़ फल खा लूँ, पी लूँ जल भी निर्मल,
राम-कृपा से दूर रहेगा रक्ष-रक्षकों का दल।"

५३

"राम सदा अनुकूल रहें, सुत! क्षुधा शांत जा, करले,
बहुत थक गया होगा तू, अब श्रम अपना, जा, हर ले।
है विश्वास, बुद्धि, बल से तू बाधा दूर करेगा,
होंगे जो अवरोधक उनके मद को चूर करेगा।"

५४

छूकर चरण चला कपि, खाये फल, थे तरु भी तोड़े,
रक्षक-दल दौड़ा, भट उसके मारे, अंग मरोड़े।
वन-विध्वंस किया कुछ भागे, पहुँचे रावण-द्वारे,
"नाथ! एक भीमाकृति कपि ने वन के वृक्ष उजाड़े।

५५

रक्षक मार भगाये हैं सब, गर्ज रहा घन-जैसा,
वानर क्या है, वज्रमूर्ति है, देखा कभी न वैसा।"
सुन, सकोप रावण ने भेजा अक्षकुमार तनय को,
कटक सुभट, शूरों का देकर कपि-कुमार के जय को।

५६

जाते जाते ही कपि ने था सारा कटक पछाड़ा,
एक वृक्ष ले अक्षवीर के शिर पर पटक, दहाड़ा।
दैत्यचरों ने अक्ष-निधन की जाकर कथा सुनाई,
जिसने थी असुरेंद्र कोप की आग अमित भड़काई।

५७

मेघनाद को बुला कहा, "कपि पापी को ले आओ,
बाँधो उसे, दंड दूँगा मैं, लाकर मुझे दिखाओ।"
बंधु-निधन से क्रुद्ध इंद्रविजयी ने शस्त्र सँभाले,
चुने हुए सुभटों ने अपने आयुध तीक्ष्ण निकाले।

५८

धावा कीश-केसरी पर जा बोला सुभट-अनी ने,
मर्दन कर, घर्षण कर कुशला मर्कट शक्ति-धनी ने।
शाखा और शिलाओं से ही शस्त्र-शक्ति थी मोड़ी,
भिड़ी वहाँ तब महावीर की मेघनाद की जोड़ी।

५९

ताल-ध्वनि की उठी प्रतिध्वनि कंप भरा कानन में,
गूँजा गगन डूबता-सा था गुरु गर्जन, तर्जन में।
चड़मड़ चड़मड़ टूट रहे थे तरुओं के तन ऊँचे,
टूक टूक हो शिलाखंड थे खिसले उखड़ समूचे।

६०

शक्ति, शेल, असि उगल रही थीं चिनगारी अंबर में,
निरख योगिनी नाच उठीं, भर किलकारी संगर में।
दोनों विकट शूर थे, लड़ते-लड़ते थका न कोई,
शक्रजयी भी चला कीश पर कौशल सका न कोई।

६१

ब्रह्मवाण ताना तब उसने, कपि मर्यादा-वश था,
नागपाश में तब रावणि ने कसा अंग कर्कश था।
योधा उठा ले चले उसको लंकापति के आगे,
यूथ यूथ मिल यातुधान-गण कौतुक-सा लख भागे।

६२

शोकमग्न उजड़ा अशोकवन पड़ा वहाँ मुँह फाड़े,
रक्षकगण बैठे विपन्न सब, सूने पड़े अखाड़े।
किया प्रभंजन-सुत ने भंजन ऐसा उस उपवन का,
सीता के समीप, पर कोई नहीं पत्र भी खड़का।

६३

ठंडी पड़ी-चेरियों ने जा त्रिजटा का मुख हेरा,
मारुतनंदन के विक्रम ने जिसे प्रथम ही घेरा।
"मायावी वानर-छौना था कोई सुर ही सजनी!
लक्षण ऐसे हैं आई यह काल रूप ही रजनी।

६४

छक्का शक्र-मदहारी को है दिया क्षुद्र मर्कट ने,
कँपा हृदय है दिया हमारा इस घटना दुर्घट ने।
इस भोली आकृति में लीला नियति-नटी ने खोली,
कुछ अद्भुत प्रताप है सीता, समझो नहीं ठठोली।

६५

नहीं कीश-शिशु, उग्र मूर्ति था मानों काल [illegible]ंकर,
शंकर रक्षा करें! हुआ है यह अपशकुन भयंकर।"
त्रिजटा यह कह मौन हुई, थीं नतमुख सभी सहेली,
थी प्रमोदिनी दानवियों के सम्मुख प्रथम पहेली।

छठा सर्ग

१

जिसके भ्रू-विलास से पड़ती सृष्टि प्रलय-क्रंदन में,
उसका दूत पड़ा लंका में असुरों के बंधन में।
इसी भेद को भक्त हृदय हैं रहते सदा तरसते,
नर-लीला में ही नारायण के रस-बिंदु बरसते।

२

कनकासन पर दानवेन्द्र है बैठा राजसभा में,
जगमग जगमग ज्योति जग रही, जिसकी रत्न-प्रभा में।
कपि-केसरी अशंक भाव से विस्मित खड़ा वहाँ है,
सेवा में सुरवृंद, चित्र में देखा जड़ा जहाँ है।

३

वीरलहु रक्षोकुल-भूषण मेघनाद के बल की,
करते सभी प्रशंसा मन में गुण की, रण-कौशल की।
नीचे-ऊपर देख दशानन ने कपि को फटकारा,
"रे बर्बर ! किसलिए यहाँ तू आया मति का मारा ?

४

कौन ? कहाँ से ? क्यों अशोक-उद्यान उजाड़ा तूने ?
निरपराध रक्षकगण को किसलिए पछाड़ा तूने ?
क्यों त्रैलोक्य-शूर रावण के सम्मुख शीष उठाये,
सीधा देख रहा है रे शठ ! शिष्टाचार भुलाये।"

५

"लंकापति ! हैं काल काँपता जिसके भय से क्षण-क्षण,
होता है गतिमान जगत का जिसकी गति से कण-कण।
उन्हीं राम का दूत हनूमत आया पथ दिखलाने,
भ्रष्टमार्ग, भ्रम में भूले को मति पर ठीक लगाने।

६

भूखा था, फल खाये, तोड़े तरु स्वभाव वानर के,
मारा उन्हें, जिन्होंने मारा मुझे, न भागा डरके।
दो जानकी, राज लंका का भोगो, सुख से सोओ,
पावन ऋषि पुलस्त्य का गौरव पानी में न डुबोओ।

७

तुम त्रैलोक्य-शूर हो जैसे, किसको विदित नहीं है ?
बालि, सहस्रबाहु से रण का छिपा न भेद कहीं है।
जो पिनाक-भंजन-भवत्राता-रघुपति-शरण गहोगे,
दशग्रीव ! तो प्रणतपाल के बल निर्विघ्न रहोगे।"

८

"शठ ! सिखलाने मुझे चला है गुरु बनकर रे बंदर
सिखलाता संपूर्ण विश्व को बीसबाहु दशकंधर
नाच रही है कर फैलाये मृत्यु शीष पर तेरे,
बोला कपि, "हां नाच रही है, पर तेरे, न कि मेरे

९

"महामूढ़ मर्कट के हर लो प्राण अभी हे वीरो
इस अशिष्ट दूताधम का तन चतुर्मार्ग पर चीरो।
सुन निदेश प्रहरी प्रहार को तत्क्षण आगे आये,
'है अवध्य ही दूत' विभीषण ने नय-वचन सुनाये।

१०

अभिमानी रावण ने हँसकर दया दिखाई मानों,
बोला, "अंग-भंग कर छोड़ो इसे मंद ही जानो।
बंदर की होती है अति ही प्रबल पूंछ पर ममता,
जला पूंछ ही विकृत बना दो, तब तो नहीं विषमता ?

११

"उचित दंड ही नहीं, शत्रु को प्रत्युत्तर भी इसमें,"
कहकर सभी मग्न थे मानों नव विनोद के रस में।
घर घर से घिर बाल तूल के लगे लपेट लगाने,
बढ़ा पूंछ बंदर भी मन में लगा प्रमोद मनाने।

१२

आग लगी, लंगूर लगाती चक्कर सर-सर घूमी,
गिरे सौध, थी वह्नि-शिखा ने नभ की चोटी चूमी।
धू-धू करतीं, धूम उठातीं चट चट चढ़तीं लपटें,
कलधौतों के कंगूरों पर दिखा रही थीं झपटें।

१३

चाट चाटकर यातुधान-तन, जिह्वा लोल पसारे
चामुंडा-सी चंड प्रभा से उग्र रूप थीं धारे।
सुत का विक्रम देख प्रभंजन झुका, झूमता झपटा,
अंग उनंचासों से चलकर दिया उपद्रव प्रकटा।

१४

लंका थी कंपायमान हो चीखें भारी भरती,
पाषाणों से, प्राणि-पुंज से पटी पड़ी थी धरती।
दहक रही अंगार-राशि थी रवि की रक्त छटा-सी,
फिरती थी लंगूर मल्ल को लाघवमयी पटा-सी।

१५

मारुति के बंधन से सीता उजड़े राज-विपिन में,
खिन्नवदन, अस्थिर मन बैठी रही निशा में, दिन में।
दुष्ट दासियों के दिल काँपे, सोचा क्या है होनी,
कतराती थीं अब सीता से, लेकर सूरत रोनी।

१६

देखा, दहक रही है लंका यज्ञ-शिखा-सी ऊँची,
उठ-उठ लपटें फिरा रही हैं रक्त-पटी पर कूँची।
यम की एक विराट मूर्ति का चित्रण महा विलक्षण
करतीं, भीमाकार भटों का हँस हँस करते भक्षण।

१७

स्वर्ण-शिखर पिघला है, जिससे चली पीत-पय सरिता,
कल्लोलिनी, नील नीरधि से मिल छवि पाती हरिता।
रजत-कणों की कनक-कणों के संग सुहाती जोड़ी,
सिंधु-सलिल में है आलिंगन करती होड़ाहोड़ी।

१८

वैदेही के विकल हृदय में शूल हूलता भाला,
विचलित बना रही है मन को स्वर्णपुरी की ज्वाला।
"क्यों लंका में आग लगी है, जाने एक विधाता,
ईश ! तुम्हीं हो हनूमान के, राम-दूत के त्राता।

१९

नर-नारी का क्रंदन सुनकर धड़क रही है छाती,
क्रूर, कठोर कृत्य का कारण बना कौन उत्पाती ?"
त्रिजटा घबड़ाई-सी आई, बोली, "हे तपशीले !
जाने आज प्रचंड दहन ने कितने निशिचर लीले ?

२०

हेमपुरी पर प्रथम कालिमा इन नयनों ने देखी,
विधि की कुछ विपरीत दृष्टि ही तिरछी पड़ती लेखी।
वंदी अग्नि स्वयं है जिसका, उस रावण की नगरी,
धक-धक जलती, एक न मानों पाती जल की गगरी।

२१

भद्रे ! भले नहीं हैं लक्षण, वन यह खाने आता,
जो था भू का स्वर्ग वही है खँडहर पड़ा दिखाता।"
"हाहाकार सुन रही त्रिजटे ! होता हृदय दुखी है,
हुआ प्रज्ज्वलित प्राण हर रहा पावक विपुलमुखी है।

२२

अवशा यही प्रार्थना करती हरि ! सबका हित साधो,
सच्ची राह लगाओ सबको, द्वार कुपथ का बाधो।
इस अभागिनी की त्रिजटे ! कुछ ऐसी मंद कथा है,
जाती जहाँ साथ ले जाती वहीं विपत्ति-व्यथा है।"

२३

इतने ही में पवनपुत्र को, सिंधु-स्नान हो आते
देखा जनकनंदिनी ने त्यों त्रिजटा को उठ जाते।
पादप्रणत हो खड़ा हुआ था कर जोड़े कपि बंका,
देख उसे हर्षित थी सीता, भयभीता थी लंका।

२४

हनूमान ने हेमपुरी का दहन-वृत्त बतलाया,
सीता का मुरझाता मानों था हृत्कंज खिलाया।
"जननी ! अब अभियान करेंगे बिना विलंब खरारी,
पावेगा अपनी करनी का फल असुरेंद्र सुरारी।

२५

व्यग्र हो रहे होंगे पल-पल समाचार पाने को,
विदा मुझे दो अंब ! शीघ्र अब प्रभु-समीप जाने को।"
"शीतल हृदय हुआ था तुझसे, तू भी है अब जाता,
देखूंगी फिर वही सूर्य मैं, वही चंद्र दुखदाता।

२६

प्रभु को विनय सुनाना मेरी यह चूड़ामणि देकर,
कहना प्रभो ! तजेगा रावण मुझे प्राण ही लेकर।
एक मास की अवधि दुष्ट ने निश्चित की है वध की,
लाज इसी पर है विदेहजा की, प्रभुपुरी अवध की।

२७

प्राण हठी ये प्रभु-वियोग में तन को छोड़ न पाये,
गुरु अपराध हुआ, जो उससे ममता तोड़ न पाये।
प्रभु-संमुख स्वीकार दोष निज करने की अभिलाषा,
क्षमा-प्राप्ति की भी इस मन को बड़ी प्रबल है आशा।

२८

नयन स्वार्थ-वश विरह-अग्नि को रहते सदा बुझाते,
इसीलिए हैं दग्ध श्वास भी तन को जला न पाते।
सुत ! समझा देना निज मति से मेरी विपद-कहानी,
संतापों की, दानवियों की आचरनी मनमानी।"

२९

विदा हुआ सागर के तट पर एक वार कर गर्जन,
गूँज उठा लंका गढ़ में उस भीमनाद का तर्जन।
सीता वहीं शिलासन पर थी बैठी खोले वेणी,
देख रही थी दृढ़ासनस्था प्रतिमा को गिरि-श्रेणी,

३०

प्रखर तीर-सी व्योम-मार्ग को चीर रही थी रेखा,
कपि के गरुड़-गमन का देती वैदेही को लेखा।
लगती थी, है सेतु सिंधु पर मानों बना अधर में,
हैं सन्नद्ध उतरने ही को श्री रघुवीर समर में।

सातवाँ सर्ग

१

दुर्ग-दहन लंका का भय की नींव जमाता उर में,
बैठा था जिह्वा जिह्वा पर निशाचरों के पुर में।
बबक बबक उठते थे बालक, नारी थीं घिघियाती,
सपने में शय्या पर पौढ़ी बंदर से भय खाती।

२

यातुधान-भट लज्जित मन में, डींग हाँकते वैसे,
राजपुरी की पत छिनने से लगते थे मृत-जैसे।
चिंतित थे, 'जब एक दूत के बल का विक्रम ऐसा,
तो उसके प्रभु के प्रताप का वैभव होगा कैसा?'

३

पर, प्रबोध देता था रावण, "रे राक्षस रणधीरो!
क्यों विचलित हो रहे क्षुद्र-सी घटना से बलवीरो।
क्या ऐसी विपत्ति है आई, आँखें चौंध रही हैं?
क्यों बिजली की लोल लहरियाँ आगे कौंध रही हैं?

४

है संयोग, पराक्रम कपि का इसमें लेश नहीं है,
शूर न नैसर्गिक कोपों से पाता क्लेश कहीं है।
प्रबल प्रभंजन की गति से थी भभक उठी चिनगारी,
रुद्र रूप लेकर फिर प्रकटी, पुरी जलाती सारी।

५

नर, कपि, भालु यहाँ आवें तो भाग्य हमारे जागें,
क्या संग्राम-लाभ का अवसर पाकर मूढ़ो ! त्यागें ?
होगा दुर्लभ लाभ स्वयं चढ़ राम यहाँ आवे तो।
जो भक्षण-भंडार भालु-कपि-दल बटोर लावे तो।

६

क्यों कायरता लिये कलंकित करते रक्षोकुल को ?
भूल गये क्या शिल्प-शिरोमणि मय की कला अतुल को ?
नर संघर्ष प्रकृति से करता बढ़ता आगे जाता,
उसकी नव्य प्रयोग-प्रणाली पढ़ता आगे जाता।

७

नव निर्मित लंका की आकृति सुन्दरतर ही होगी,
मय की भव्य उदार कल्पना विस्मयकर ही होगी।
दैत्य-दीपको ! करो न अपनी ज्योति मंद, जलने दो,
साहस भरो, डरो न, जगत को निज गति से चलने दो।

८

विजय दशानन की मुट्ठी में रहती है रणधीरो !
पृथ्वी को पद-दलित बनाओ, नभोमार्ग को चीरो।
दिग्विजयी के शूर कहाकर दुर्बलता मत लाओ,
चाहो जहाँ वहीं तुम जाओ, निर्भय हो जय पाओ।"

९

यहाँ दानवी-दल को लेकर त्रिजटा बड़े सवेरे,
सुना रही थी स्वप्न शोकिता, भय था सबको घेरे।
"दुःस्वप्नों को देख रही हूँ उजड़ा उपवन जब से,
ऐसी अनमन हुई निरखती जग को निर्जन तब से।

१०

पौ फटने के पूर्व आज है स्वप्न भयंकर देखा,
दनुज-वंश के लिए प्रलय ही लोक-लयंकर देखा।
देखा, है निर्वसन दशानन खरारूढ़, एकाकी,
दक्षिण-दिशा-मार्ग को जाता भूला शक्ति भुजा की।

११

शिर का मुंडन हुआ, भुजाएँ बीसों टूट पड़ी हैं,
ग्रीवाएँ फिर एक एक कर धड़ से छूट पड़ी हैं।
रावण-वंश विनष्ट हुआ है, तमीचरों का क्षय है,
सिंहासन-आरूढ़ विभीषण, राघव की जय जय है।

१२

कुछ दिन पीछे सिद्ध सत्यता इसकी निश्चय जानो,
चाहो यदि कल्याण जानकी का पद-पूजन ठानो।
अहंकार अपना न तजेगा असुराधिप अभिमानी,
बल-दर्पी है, सुर-विजयी है, अहंमन्य यदि ज्ञानी।"

१३

सभी दासियाँ काँप उठीं, सुन सर्वनाश की गाथा,
सूझ नहीं पड़ता था कुछ भी, चकराता था माथा।
जा सब सीता के चरणों पर गिरीं, "अवनिजा देवी,
क्षमा करो पिछली बातों को, हैं हम पद-तल-सेवी।

१४

हिंसक जीवन में ही लालन-पालन हमने पाया,
कभी न दिव्यालोक दया का दानवता में आया।
देख तुम्हारे तपश्चरण को हृदय हमारा बदला,
पूज्ये! निकल बह गया है सब भीतर का मल गदला।

१५

कर्वुरेंद्र की दासी हैं, करतीं निर्देश का पालन,
प्राणों के भय से सकतीं हैं किसी भाँति भी टाल न।
पश्चात्ताप किंतु हैं हमको दत्त दुखों पर सरले!
अब दैवी प्रकोप से दोगी त्राण तुम्हीं हे तरले!"

१६

"तुम कर्त्तव्य-बद्ध अबला हो, रोष तुम्हारा क्या है ?
त्रास, ताप की तो आज्ञा है, दोष तुम्हारा क्या है ?
तन की पीड़ा सुखद सदा है, मन का मल जो हर ले,
तोष यही है पर-पीड़न के भाव तुम्हारे बदले।"

१७

आकर किया तभी त्रिजटा ने वैदेही का वंदन,
बोली, "उजड़ा उपवन भी है आज बन रहा नंदन।
मन के सुमन सुगन्ध दे रहे, पवन चला है,
उदित हुई चारित्र्य-चंद्र की नूतन एक कला है।"

१८

"त्रिजटे ! हैं विधि के विधान से हृदय तुम्हारे निखरे,
अंतर में थे पड़े निहित जो भाव भव्य हैं बिखरे।
यही भूमि बन जाय स्वर्ग जो मन में सुमति बसा ले,
मिटें सभी के स्वार्थ-समुद्भव कल्पित कष्ट-कसाले।"

१९

वैदेही के वचन हृदय को छूते मोह रहे थे,
मन उनके क्रूरत्व-भाव से कर विद्रोह रहे थे।
बातों ही बातों में सूरज शिर के ऊपर आया,
चलने को तब दानवियों का मस्तक भू पर आया।

२०

नैश गगन में तारे छिटके, महकी रजनीगंधा,
चला सदा की भाँति प्रकृति का जाता गोरखधंधा।
सीता की उधेड़बुन भी है चलती मन ही मन में,
कुछ अपूर्व आभास मिला है वन के परिवर्तन में।

२१

"सोने की लंका में सुनती लोहे की झंकारें,
दैत्य-वाहिनी के शूरों की रण-निर्घोष-पुकारें।
राजपुरी के जल जाने से जला-भुना भट रावण,
सुभटों को संनद्ध कर रहा रचने को भीषण रण।

२२

वाण-प्रताप राम का रण में खरदूषण-संहर्त्ता,
देवराज के सुत जयंत की लीला का इतिकर्त्ता।
सोच, शूर-संहार-दृश्य है आँखों में फिर जाता,
शोणित का सरिता-प्रवाह है मानस में घिर आता।

२३

रावण हठी सहज त्यागेगा क्या कुपंथ की गदि को,
फिर रघुवीर कहाँ तक देंगे दंड नहीं दुर्मति को।
पवनपुत्र ने किया कांड जो, वह अरण्य की आँधी,
निकल गई लंका के शिर से, पर दुर्बुद्धि न बाधी।

२४

प्रभु का कोपानल ही भस्मीभूत करेगा मल को,
लाता है विनाश ही केवल सत्य-मार्ग पर खल को।
सद्विचार से सदा महामति जग का हित अपनाते,
किंतु दुराग्रह, दंभ, द्वेष को कितना वश ला पाते?

२५

होती है जब सभी भाँति से सदाचरण की हेला,
आती है तव तापहारिणी समुद्धार की वेला।
कर देता प्रशस्त पावन पथ कोई एक अकेला,
विस्मयकर होती है जिसकी खलोत्पाटिनी खेला।"

२६

गढ़ के प्राचीरों पर प्रहरी सजग शस्त्रधर डोलें,
सैनिक-गण के यूथ अहर्निश सज्जित जय जय बोलें।
वीरबाहु रावण के बल में नहीं किसी को शंका,
तो भी आतंकित रहती है जल जाने से लंका।

२७

पावकदग्धा पुरट्पुरी का रूप सँवार दिया है,
मानों पुट दे देकर दूना दीपित वर्ण किया है।
नहीं निशान कहीं जलने का दमकी उज्ज्वल काया,
मँडराती दिखलाती है पर सिर पर काली छाया।

२८

मतिमानों को, जो भविष्य की चिंता में रत रहते,
लक्षण अच्छे नहीं दिखाते, यदपि न वे कुछ कहते।
बुद्धिहरण है दंड काल का जग के महाबली को,
बढ़ते-चढ़ते ही देखा है पतन-निमित्त छली को।

२९

अहंकार में डूबा, रावण सुनता नहीं किसी की,
मंदोदरी, सचिव कुशलों को चिंता सदा इसी की।
दुर्मतियों के मोद न कम हैं जुड़ते नित्य अखाड़े,
नहीं देखते पीछे उनके काल खड़ा मुँह-फाड़े।

३०

खिली अशोक-वाटिका भी है टूटे तरुओं वाली,
प्रिय प्रिय पौधे लगा क्यारियाँ सजा रहे हैं माली।
त्रिजटा के समीप बैठीं हैं चेरी कान लगाये,
सुनने को संवाद नये कुछ स्वर्णपुरी से आये।

३१

बोली वह, "मैं समाचार क्या तुमको नये सुनाऊँ,
गाते जिन्हें नित्य ही गायक उनको क्या दुहराऊँ।
दिग्विजयी दशकंठ अचिंतित इतिकर्त्तव्यमना है,
जाने क्या भवितव्य शेष अब उसके लिए बना है?

३२

मिलते हैं संवाद, जहाँ कुछ दूरदर्शिता होती,
जन जन की रुचि प्रगतिशालिनी समुत्कर्षिता होती।
दिवारात्रि आमोद, प्रमोदों का ही रंग जहाँ है,
उठता वहाँ समाचारों का नया प्रसंग कहाँ है?

३३

रिपु का दूत चुनौती देकर गया गर्जता घर है,
उसके भी आक्रमण प्रवल का यहाँ न कुछ भी डर है।
जहाँ पराकाष्ठा प्रयास की मान बैठता नर है,
होता क्षण क्षण क्षीण वहाँ पर बल-विक्रम है, वर है।

३४

अग्निशिखा-सी वैदेही में प्राण वसे हैं अब भी,
जगा न रावण विपुल निशाचर काल ग्रसे हैं तब भी।
दुर्मतियों की मति में अब भी भालु, कीश हैं भोजन,
करके पार, जला दे लंका, जो सागर शत योजन।

३५

समाचार भवितव्य स्वयं ही देगा और न कोई,
देता यही दिखाई, दशमुख ने अब लंका खोई।
सत्य-सूर्य की स्वर्ण-किरण-सी सीता बैठ अकेली,
बनी दशानन को है हमको सबको एक पहेली।

३६

चेरी ने तब कहा, "स्वामिनी ! सच तो बात यही है,
स्वर्णपुरी पर, पर पुरारि की दया सदैव रही है।
दशग्रीव के बल-वैभव की रक्षा वही करेंगे,
महादेव हैं, निज त्रिशूल से शूल समस्त हरेंगे।"

३७

इन्हीं विचारों में निमग्न सब लगीं काम में अपने,
कोई भय से भूल सभी कुछ बैठी 'शिव-शिव' जपने।
सीता के संताप-दिवस थे योंही जाते बीते,
आशा में रघुवीर-मिलन की, नव विपत्ति से रीते।

३८

अरुणोदय हो रहा, खोलती घूंघट आई ऊषा,
नभ के परम प्रसन्न वदन में विकसाती नव भूषा।
फड़क उठे वामांग, शकुन शुभ प्रकटित हर्षित होके,
प्रकृति प्रफुल्लित के प्रांगण में क्षिति-जा ने अवलोके।

३९

प्रभु के शुभागमन की मानों सुखद सूचना देती,
विहगावली फुला पंखों को थी उड़ान भर लेती।
केलि समीरण से करके था सलिल तरंगें लेता।
रंजन राजहंस का सुख था कलरव करके देता।

४०

सुमन-समूह हुआ था मुकुलित मन की कलियाँ खोले,
तरु-शाखाओं पर पक्षीं-गण स्वागत-स्वर में बोले।
उजले उजले बादल उड़ते हृदय-खंड-से नभ के,
रश्मि-जाल के अवधारण थे वे सविता स-प्रभ के,

४१

वातावरण बदलता-सा था मृग दृग ऊँचे करके,
खुजा रहे थे अंग मृगी के शृंगों से, मन हरके।
दिन उल्लास-लहर-सी लेता संध्या से मिल फूला,
वैदेही का मन भी प्रमुदित रहा हर्ष में झूला।

४२

सागर के समीप कोलाहल सुन त्रिजटा उठ धाई,
चित्र विचित्र पताकाएँ लख, थी अचरज में आई।
महा प्रवाह रेणुका-तट पर बहता-सा बहुरंगी,
बली, विशाल वाहिनी का था देखा तुंग तरंगी।

४३

चापाकार एक रेखा-सी थी अंबर में लटकी,
छूती एक कोटि थी जिसकी अवनी वारिधि-तट की।
अघटित-सी घटना थी मानों घटी सुरारि-पुरी में,
ठुकी कील-सी थी रावण के रथ की सुदृढ़ धुरी में।

४४

चक्षु विशाल फाड़ती त्रिजटा सीता-संमुख बोली,
"सुभगे ! तव शृंगार-हेतु यह संध्यां लाई रोली।
लगता है, अवधेश आ गये वारिधि के इस तट हैं,
फहराते विस्तीर्ण परिधि में लसे पताका-पट हैं।

४५

नभ में इंद्रचाप ही मानों उदित हुए हैं शोभन,
करती सुरांगना हैं किंवा नर्तन नूतन, लोभन।
तारापथ-सा सेतु नापता मानों नभ की दूरी,
उठा अंबुनिधि के ऊपर है, सेना है लंगूरी।

४६

जलधि-तीर पर है तरंगिणी मानों वहती गहरी,
किंवा रत्न-प्रभा ले प्रकटी रत्नाकर की लहरी।"
सुनकर सीता की आँखों में हर्ष नाचता आया,
तृषित कंठ में था त्रिजटा ने अमृत-बिंदु टपकाया।

४७

बोली, "इस सुवृत्त में मृदुले ! सब कुछ है दे डाला,
संतत ऋणी रहेगी तेरी यह अभागिनी बाला।
देता जो संताप वही है संजीवन भी देता,
दयानिधान सदैव दास की प्रेम-परीक्षा लेता।"

४८

त्रिजटा गई, रजनिका आई कर में दीप जलाये,
सीता के सस्मित दर्शन को निज लोचन ललचाये।
कुमुद-कुलों को खिला कलाधर सुधा-धार बरसाता।
हिलमिलकर हिल्लोलों से था सरसी को सरसाता।

४९

सीता के आनंद-सिंधु में आकर्षण की डोरी,
रामचन्द्र के चन्द्रानन की, हिलती थी रस-बोरी
वही श्याम मृदु गात्र, लखा जो धनुर्भंग के पल में।
उठा रहा उल्लास जानकी के हुलसित हृत्तल में।

५०

मिलन-मोद में भूली अपना वंदी-जीवन-बंधन,
करने लगी कल्पनाओं का अभिनव एक निबंधन।
"प्रभु का कोप, कराल शरों का संहारक संचालन,
लंका का क्या सकल सृष्टि का बन जावेगा काल न ?

५१

क्या सन्मति का बीज जमेगा दुर्धर असुर-मही में ?
क्या सर्वात्मभाव का होगा उदय कृपाण-ग्रही में ?
क्या [illegible] शांति के संस्थापन में सात्विकता [illegible] ?
क्या रणचंडी की ही ध्वंसक बर्बरता बीतेगी ?

५२

पाप-भाँड तो फूटेगा ही, पर क्या कांड बनेगा ?
जाने किसविध रघुवर, रावण का संघर्ष ठनेगा ?"
करती फिर कल्याण-कामना लग्न हुई प्रभु-रति में,
मानवता की मर्यादा के पुरुषोत्तम की गति में।

आठवाँ सर्ग

१

अंगद का दूतत्व मोघ था, रावण हठी न माना,
गिरने पर भी मुकुट, न आगम विपदा का पहचाना।
रोपा था पग भरी सभा में कपि-कुंजर ने जैसे,
मति-भ्रष्ट के विकृत बोध में आ सकता था कैसे ?

२

कीश-कटक के बल-प्रतीक ने जो साहस दिखलाया,
दर्पी दैत्य-भटों का उसने दुर्मद था दहलाया।
हनूमान का लाघव, अंगद-गौरव देख न जागे,
दौड़ रहे थे काल-चक्र के आगे असुर अभागे।

३

छेड़ दिया रण, राघव-दल ने, लंका का गढ़ बंका,
घेर लिया चारों द्वारों से, उमड़ी अनी अशंका।
शक्ति, शूल, परिघा, कृपाण से शस्त्रित शूर सजीले,
राक्षसेंद्र के भिड़े भयंकर, ध्रुव रणधीर, पजीले।

४

उन्नत शिखर, वृक्ष की शाखा, पर्वत-पुंज ढहाते,
कूद रहे थे दुर्ग-पीठ पर भट मर्कट मदमाते।
बढ़े महोदर, वक्रदंत थे करालाक्ष, दृढ़वक्षी;
झपटे क्रूर कृपाण-शूलधर ज्यों अहेर के पक्षी।

५

दे लंगूर-लपेट, नखों से थे दीर्घांग विदारे,
चारों ओर चपेटे वानरों, रीछों ने भट मारे।
हुआ कटक-संहार खुल गईं आँखें दशकंधर की,
नहीं कल्पना कर पाई थी सेना की बंदर की।

६

'वानर, रीछ न छोटे भट हैं होगी विकट लड़ाई,'
रावण के मस्तक में थी अब बात तथ्य की आई।
आधा कटक विनष्ट हो गया राजपुरी बिलखाती,
क्रंदन करती आक्रोशों से पीट रही थी छाती।

७

यहाँ जनकजा के श्रवणों में पड़ा रौद्र रव ज्योंही।
हुई क्रूर कल्पना मात्र से अर्ध-मूर्छिता त्योंही।
"द्वेष-दमन का मार्ग एक ही है क्या आग लगाना?
विधे! नहीं क्या संभव होता रिपु में प्रेम जगाना?

८

रचना, भरना, हरना जग को कोरी बाल-क्रीड़ा,
फल क्या, मिटी न जो इस भव के प्राणिवर्ग की पीड़ा।
युद्धों की ज्वाला ने जग में कब न कालिमा छोड़ी?
शक्ति-उपासक-दल ने है कब त्रास-भावना तोड़ी?

९

शिर पर जल छिड़का जाता है आती जहाँ उदासी,
रहती सृष्टि अतृप्त किंतु है शांति-सुधा की प्यासी।"
इसी विचार-विलोड़न में पड़ सीता अति अकुलाई,
उसी समय उद्विग्न, डरी-सी त्रिजटा सम्मुख आई।

१०

वैदेही ने प्रश्न किया, "हैं समाचार क्या रण के?
दिवस निकट आते जाते हैं दश-ग्रीव के प्रण के।"
"सुभगे! है आदेश तुम्हें रण-वृत्त न तनिक मिलेगा,
आज्ञा बिना अशोक वनी का पत्ता भी न हिलेगा।

११

यही निवेदन करने को मैं आई निकट तुम्हारे,
स्वामी का निदेश ही ऐसा, वश कुछ नहीं हमारे।"
"घुलती रही, घुलूंगी त्रिजटे! अब भी महाव्यथा में,
भरना ही है शेष रहा जो मेरी करुण-कथा में।

१२

हो निर्दोष, संगिनी वन की तुम अपना व्रत पालो।
क्यों मेरे कारण प्राणों को संकट में तुम डालो?"
थी एकांतवासिनी सीता की गति उस अबला-सी,
सिंधु-तीर पर खड़ी हुई जो रही नीर की प्यासी।

१३

कान फटे जाते थे सुन-सुन धन्वा की टंकारें,
हूल-हूल थीं हृदय बेधती शूरों की हुंकारें।
घोर गर्जनामय वीरों की चोटों की आहट से,
सीता सहम-सहम गिरती थी भारी घबड़ाहट से।

१४

किसकी चोट कहाँ पड़ती है, पता न देता कोई,
खोई-खोई-सी अरण्यिनी हिरनी-सी वह रोई।
"नभ में है प्रदोष, दोषा का दूत, हँस रहा खुलके,
बल बढ़ जाते जिसे देखकर दूने दानव-कुल के।

१५

कपि-कुल मंददृष्टि होता है तम का पग पड़ते ही,
लड़ती होगी शत्रु कटक से, पर उसको लड़ते ही।
क्या रघुनाथ प्रकाश स्वयं दे करते होंगे रक्षण?
किंवा दैत्य कर रहे होंगे निर्भय कपि-कुल-भक्षण?"

१६

तर्क-वितर्क उठाती मन में वैदेही विक्षुब्धा,
हो जाती थी कभी सचेतन, कभी शोक से मुग्धा।
पता नहीं चलता था वह जगती अथवा सोती,
अश्रुधार से अंचल अपना फिर फिर रही भिगोती।

१७

वेग बढ़ रहा भीषण रण का काँप उठी है धरणी,
डगमग-डगमग डोल रही है दोनों दल की तरणी।
कुलिश, अकंपन आदिक भट हैं महासमर में सोये,
बड़े-बड़े विद्रूप वीर हैं लंकेश्वर ने खोये।

१८

एक एक कर हेमपुरी के रत्न लुटे हैं जाते,
टप-टप मानों जामुन के फल फूट छुटे हैं जाते।
विचलित होने पर भी रावण हटता नहीं हठीला,
सैन्य-संगठन पड़ने अपना देता तनिक न ढीला।

१९

शक्र-विजेता मेघनाद की रण-संचालन-पटुता,
छुटा रही है छक्के सबके चखा रही है कटुता।
छोड़ा शूर न एक किया शर-विद्ध शरीर न जिसका,
प्रबल पराक्रम देख हुआ था हृदय अधीर न किसका?

२०

विद्युद्गति से गिरती थी तलवार कहीं तो शक्ति कहीं,
होता शूल-प्रहार कहीं तो तन की थी अभिव्यक्ति कहीं।
नभ में स्यंदन उड़ जाता था भिड़ता यदि सुग्रीव कहीं,
क्षण में रूप छिपाता था, पा अंगद को उद्ग्रीव कहीं।

२१

हनूमान ने हुंकारा तो जामवंत पर, जा टूटा,
लक्ष्मण ने यदि ललकारा तो नील शूर पर था छूटा।
पटका चचा विभीषण को तो रघुपति के संमुख गर्जा,
आया कटक कटकटाता तो तीरों के बल से वर्जा।

२२

वज्राघात-नाद से करती यह अनुमान कि क्या बीती,
रघुपति की अनिष्ट-शंका से सीता थी मर मर जीती।
इंद्रजीत के रथ से नभ में रवि का रथ था झँप जाता,
तीव्र तेज के उद्भव से था सीता का तन कँप जाता।

२३

रथ से रहित जान रघुवर को महारथी से लड़ने की,
कठिन कल्पना कारण बनती उसका हृदय धड़कने की।
थी मर्मांतक कष्टदायिनी, जाने कहाँ प्राण अटके,
प्राणेश्वर की [illegible]-भावना में फिरते भटके-भटके ?

२४

रावणि ने उस दिन दिखलाया अश्रुतपूर्व पराक्रम था,
श्रमित हुए राघव के दल के सुभटों के मन संभ्रम था।
मेघनाद, लक्ष्मण दोनों का रण में पहला धावन था,
सागर की उठती लहरों का तुंग तरंगित प्लावन था।

२५

दो धन्वाधर त्रिशिख-चक्र से धरणी को थे हिला रहे,
मर्त्यलोक को थे वे मानों अंतरिक्ष से मिला रहे।
दोनों में था नहीं जानता कोई हार किसे कहते,
वज्र-प्रहारों को फूलों के हारों के सम थे सहते।

२६

था अनंत का तेज बिखरता, मेघनाद की वाणाली,
कर सांमुख्य रहे मानों दो चंडांशु रश्मिमाली।
शक्रजयी था श्रांत अंत में प्राणों पर थी बन आई,
घुमा शक्ति संपूर्ण वेग से फेंकी जो सत्वर धाई।

२७

छाती में जा लगी वीर के, लक्ष्मण थे तत्क्षण मोहे,
रण-शय्या पर सोते भी वे तरुण अरुण-से थे सोहे।
उठा सका फिर भी न उन्हें था शूर शिरोमणि सुरघाती,
लौट चली सेना असुरों की विजय-गर्व से मदमाती!

२८

हुई जय-ध्वनि लौटा घर को संध्या में जब रण-बंका,
विजयोत्सव की दीपावलि से हो उद्दीप्त लसी लंका।
सागर के तट से सूरज को मानों पकड़ स्वयं लाया,
लंका के ऊपर लट्टू-सा था भास्कर को लटकाया।

२९

दीपावली देख, सीता की धड़क उठी सहसा छाती,
महा विजय की सहज सूचना देती थी बाती-बाती।
कहती सीता, "प्रभो! अधिक अब दुष्टों को न खिलाओ तुम,
मुझे कष्ट दो, पर मेरा विश्वास न नाथ! हिलाओ तुम।

३०

क्या न प्रकोप तुम्हारा तीनों लोकों को प्रलयंकर है?
फिर क्यों दैत्य दुरात्माओं की लीला घटी भयंकर है?"
दक्षिण नेत्र फड़ककर पहले बाँया भी फिर फड़क उठा,
वैदेही का उर आशंका से पीड़ित हो धड़क उठा।

३१

हुई अचेतन, थी धरती पर गिरी वेदना की मारी,
लाई महा आपदा को थी घिरी निशा भी अँधियारी।
नीरवता में छोड़ उसे, थी उत्सव का रस पान को,
दासी दानवियाँ लंका को गईं विनोद मनाने को।

३२

निशा त्रियामा में सीता की आँख खुली तो पर्वत-सा,
उड़ता, औषधिवर्ग-कांति से, देखा ज्योतित स्वर्गत था।
हनूमान-सा बलशाली कपि कर पर उसे लिये धाया,
झुकता, रुकता धीरे-धीरे उतर समर-भू पर आया।

३३

"हाय विधे ! किस शूर-रत्न का विक्षत अंग हुआ कैसा,
रक्षा करना रघुवीरों की, पड़े न उनपर दुख वैसा।
टप-टप आँसू टपक रहे थे, उठा कलेजा ऊपर को
आता था, जब थी पुकारती रघुवर को, करुणाकर को।

३४

स्नेहमयी सरमा की छाया इतने में थी दृष्टि पड़ी,
सीता विचकित हुई सोचती, आई क्या कोई कुघड़ी।
चरणों में गिरकर सरमा ने सादर उन्हें प्रणाम किया,
पड़ी पास ही एक शिला पर, पा संकेत, विराम लिया।

३५

सह-अनुभूतिरूपिणी सरमा बोली तब मृदु वाणी से,
शोकसंकुला संतप्ता से, सीता से, कल्याणी से।
"लंकापति की अनुज-वधू मैं देवि ! तुम्हारी हूँ दासी,
तृप्त हुई हैं दर्शन पाकर ये मेरी अँखियाँ प्यासी।

३६

अवसर पाकर आज आ सकी गईं चेरियाँ मत्त वहाँ,
हैं उल्लासमयी लंका में पुरजन रंगोन्मत्त जहाँ।"
जनकसुता ने कहा, "सजनि ! यह संग्रामोत्सव है कैसा ?
विजय-विशेष हेतु है किंवा जन्म-महोत्सव ही जैसा ?"

३७

"विजयोत्सव ही है सुकुमारी ! किंतु न भय की बात कहीं,
हनूमान से पायक पाकर रहता क्या आघात कहीं।"
"किसके ? क्या आघात ? बताओ सखि ! मेरा उर है फटता,
हाय ! न जाने वेग हृदय का जाता क्यों घटता-घटता ?"

३८

गिरते-गिरते जनकसुता को सरमा ने कर से थामा,
"वैदेही ! चिंता न करो कुछ, धैर्य धरो," बोली वामा।
"मैं उत्सव से ही लौटी हूँ बात सभी है ज्ञात मुझे,
दूर हो चुका लगा प्रथम था सुनकर जो आघात मुझे।

३९

गेह-समेत सुषेण वैद्य हैं सैन्य-शिविर में राघव के,
वैद्य नहीं, धन्वंतरि ही हैं, मृत-संजीवन हैं भव के।
हेमलता बूटी लेने को हनूमान ही हैं धाये,
देखा मैंने अभी उठा वे अचल 'गंधमादन' लाये।"

४०

"किसके है आघात ? बताओ इतना तो पहले सजनी !
हाय ! न जाने क्या संवाद सुनायेगी दुखदा रजनी ?"
"शक्ति लगी उर में लक्ष्मण के मेघनाद बलधारी की,"
सुनकर गिरी धड़ाम धरा पर दुर्गति थी सुकुमारी की।

४१

सरमा को संताप हुआ, पर सीता को निज अंक लिये,
जल-सीकर से पल-पल सिंचन करती थी संलग्न हिये।
पलक उघारे जनकसुता ने, तूर्य-नाद हो उठा वहाँ,
तुमुल-ध्वनि से, गूँज गया नभ, था रघुवर का शिविर जहाँ।

४२

"देवि ! स्वस्थ हैं लक्ष्मण, देखो वहाँ हर्ष के वाद्य बजे,
निशा शेष है, किंतु कटक में हर्ष-मग्न हैं सूर सजे।"
सीता तब सचेत हो बोली, "दूर हुई दुखदा शंका,
मृत्यु नहीं लाती है केवल शूल चुभाती है लंका।

४३

मारुतनंदन को मैंने भी गिरि-धारे अवलोका था,
हृदय खा रहा सखि ! तब से हीं महाक्लेश का झोंका था।"
"लज्जित हूँ मैं देवि ! तुम्हारी दुःख दशा अवलोक महा,
मैं क्या, इस कुकर्म से सुभगे ! लज्जित लंका-लोक रहा।

४४

मेरे पति भी महा दुखी हैं इस पर-धन की चोरी से,
दुर्मति ने है किया चंद्र को ओझल चारु चकोरी से।"
"एक तुम्हीं तो हो हितैषिणी सरमे! मेरी लाज यहाँ,
मेरे ही अभाग से मुझ पर गिरी आप ही गाज यहाँ।

४५

बतलाओ क्या इस विग्रह के पूर्व न शांति-प्रयास हुआ?
क्या न किसी के उर उदार में जीव-दया का वास हुआ?'
"दूत स्वयं था रघुनायक ने भेजा युद्ध बचाने को,
शांत भाव से, बुद्धि-बोध से देवि! तुम्हे लौटाने को।

४६

अंगद ने पद रोप सभा में मान मथा था शूरों का,
किंतु नहीं फिर भी पलटा मत महा मंदमति क्रूरों का।
काल-प्रेरणा से ही मानों नहीं ज्येष्ठ हैं कुछ सुनते,
जो समझाते हैं वे उलटा अपना ही सिर हैं धुनते।

४७

लात मारकर उन्हें निकाला वे रघुपति की शरण गये,
मेरे पति के साथ देवि! सब नीति-प्रीति-उपकरण गये।
नहीं अन्य गति शेष रही तब रघुनायक का रोष जगा,
लंका के चारों द्वारों पर कीश-कटक कर घोष लगा।

४८

आग लगी है सागर का जल उसे बुझा पावेगा क्या ?
सैन्य-विनाश सुरारि मूढ़ को मार्ग सुझा पावेगा क्या ?"
सीता के पलकों पर तत्क्षण अलस-घटा-सी थी छाई,
उसकी मर्माहत मुद्रा में पीड़ा की प्रतिमा पाई।

नवाँ सर्ग

१

थी मनस्विनी मनोभूमि पर रण-संहार निहार डरी,
देख रही थी रुधिर-प्लावित काल-कूट की दंष्ट्र-दरी।
शोणित-सर से महायोगिनी खींच रही थीं मुंडों को।
प्रेत कपालों का भेदन कर बिलो रहे थे कुंडों को।

२

सीता के मुखमंडल पर थी क्षण-क्षण क्षणदा चमक रही,
द्रवित हृदय की तीव्र तरलता भाल-सलिल पर झलक रही।
तैर रही सरमा थी मानों ऊर्मि-राशि के ज्वारों पर,
दुखित थी उस उत्तप्ता के उठते हुए उभारों पर।

३

खोले दृग, देखा सरमा थी मलिन मुखी, सकुचाई-सी,
निज कुल के कलंक पर मानों तन में आप समाई-सी।
"सरमे ! व्यर्थ सोच करती हो मणि हो तुम इस आकर की,
अंधकार में किरण एक हो तुम ही दिव्य दिवाकर की।

४

तब तृष्णातुर नयन उठाये सरमा की नीरव भाषा
प्रकटित करती थी, है कोई उसकी उत्कट अभिलाषा।
सहज स्नेह सरसाती सीता बोली, "सखी ! कहो मन की,
इच्छा है उत्सुकनयनी हे ! तुम्हें प्राप्ति की किस धन की ?"

५

"देवि ! तुम्हारी कानन-गाथा सुनने की अभिलाषा है,
किंतु कठोर विनय करने में सकुचाती मृदु भाषा है।
है संकोच याद उस दुख की किस विध तुम्हें दिलाऊँ मैं ?
पर, कैसे उस निंद्य कर्म का समाचार भी पाऊँ मैं ?"

६

"क्यों संकोच ? सुनाने से कुछ मेरा जी हलका होगा,
और नहीं तो थोड़ा-सा ही ह्रास ताप-बल का होगा।
सहवेदनावती ! कुछ घड़ियाँ होंगी यों व्यतीत मेरी,
हाँ, तुमको कुछ कष्टकारिणी ही होंगी व्यतीत मेरी।

७

"नहीं देवि ! वह गौरव-गाथा नारी कुल की निधि ही है,
पतिव्रता के परम प्रेम के पावन पथ की विधि ही है।
सुना पिनाक-भंग-यश अद्भुत, घटना सुनी स्वयंवर की,
सुनी सुकीर्ति राम ने पाई, गति हर, जैसे भृगुवर की।

८

पर, तपस्विता के जोवन की कथा नहीं कुछ जानी है,
राघव को किस भाँति छली ने छला न ज्ञात कहानी है।
पर-धन-हरण किया पापी ने कैसे नहीं समझ पायी,
आभरणों को भी खसोट क्यों हेय वृत्ति उसको भायी?

९

क्यों निर्वासन किया राम का दशरथ-से सुत-प्रेमी ने,
त्याग दिया जिसके वियोग में प्राणों को दृढ़ नेमी ने?
यशोगान गाते हैं, जाते जो समीप नर नागर के,
हुआ विरुद्ध भ्रमित लंकापति उन्हीं राम सुखसागर के।"

१०

दीर्घ श्वास ले जनकनंदिनी अधर-पुटों को खोल वहाँ,
सरमा को वन-वृत्त सुनाती बीती बातें तोल वहाँ,
बोली, "सरमे! आभरणों को फेंक दिया है मैंने ही,
यह वियोगिनी का निरलंकृत भेष लिया है मैंने ही।

११

छला कपटवेशी ने मुझको भ्रम दे कुछ संदेह नहीं।
पहले बुद्धिहरण करके पर, किया दैव ने देर नहीं।
इस अभागिनी के विभ्रम ने यह दुर्दिन भी दिखा दिया,
असहाया, एकाकी का हा! लंकाधिप ने हरण किया।

१२

आर्यपुत्र के वनागमन का वृत्त बड़ा ही रंजक है,
चरित-चारुता के साधन का मार्ग बड़ा वह व्यंजक है।
करने को युवराज भूप ने था अभिषेक-दिवस साधा,
किंतु पड़ गई उसमें आकर गेह-कलह की ही बाधा।

१३

शुभ की शीघ्र कराने के हित बुला भरत को वे न सके,
देख इसे संदेह-दृष्टि से माँ के मंजु विचार थके।
अवधि-नृपति पर मँझली माँ के दो वर धरे धरोहर थे,
उस सुदेशिनी ने संकट में रोपे हाथ मनोहर थे।

१४

माँग वही वर, राज भरत को, रघुवर को वनवास दिया,
उसकी कुमति-भावना ने था प्रजावर्ग को त्रास दिया।
पर, रघुनंदन के ललाट पर खिंची न एक नई रेखा।
हर्ष, विषाद किसी का भी था पड़ता चिह्न नहीं देखा।

१५

मुख की उस मंजुल शोभा पर शत शत राज निछावर थे,
शत शत अभिषेकों के उसमें मानों मिले छिपे वर थे।
माँ से विदा माँग त्यागे थे वसन कीर के कागर-से,
उमड़ पड़ें पुरवासी थे सब महा शोक के सागर-से।"

१६

„मँझली माँ को क्या न बड़े सुत पर था कुछ भी स्नेह रहा ?
कैसे उसने गृह-विनाश का था वह बंधु-विरोध सहा ?"
सरमा ने अत्यन्त दुखी हो वैदेही से प्रश्न किया,
यों गंभीर गिरा में उत्तर जनकसुता ने उसे दिया।

१७

"बड़े पुत्र पर प्राणों से भी अधिक प्रेम करती थी माँ,
जीवन-मणि के तुल्य अंक में सदा उन्हें धरती थी माँ।
पर, संदेह-वृक्ष ने बढ़कर मति पर छाया डाली थी,
घनीभूत हो वही अवध को बनी तमिस्रा काली थी।

१८

मेरे प्राण, लखन के जीवन जहाँ वहीं हम दोनों थे,
ममता में प्रियजन, परिजन की लिप्त नहीं हम दोनों थे।
वन को चले, प्रशस्त प्रकृति का प्रांगण परम प्रमोदित था,
कंटक वन में छिपा सुमन के वृंत अनंत नवोदित था।

१९

पथ-वासी आते थे घिर घिर निरख बटोही तीनों को,
राजस-लक्षण-ललित तपस्वी, पदचर, साधनहीनों को।
खिन्नमना हो मृदुवचनों से परम प्रीति थे प्रकटाते,
फल-फूलों के उपहारों से अतिथि-प्रेम का सुख पाते।

२०

गंगा के तट पर केवट ने हमें उतरने नहीं दिया,
जबतक प्रभु का चरणोदक था उस निषाद ने नहीं लिया।
प्रेम-लपेटी वाणी से था हम सबके मन को खींचा,
क्या-क्या कहूँ? भील भोलों ने स्नेह-सुधा से था सींचा।

२१

भरद्वाज मुनि वाल्मीकि के दुर्लभ दर्शन प्राप्त हुए,
पितुराज्ञा के पालन में थे जीवन के सुख व्याप्त हुए।
उन अमूल्य उपदेशों में ही भारतीयता छिपी पड़ी,
आर्यों की संस्कृति की जड़ ही तपोलीनता रही कड़ी।

२२

चित्रकूट में रमकर प्रभु ने वन की शोभा पर्णमयी,
अवलोकी, सत्संग-सृष्टि थी साधुजनों की जहाँ नयी।
मंदाकिनी-मनोहर-तट की पल्लविता वह वृक्षाली।
जल-स्पर्श से पुलकित, कूजित थी बहुवर्ण खगोंवाली।

२३

स्वच्छ शिलाओं के ऊपर तरु सहज उटज-निर्माणों से,
करते थे उत्फुल्लित मन को भरते थे नव प्राणों से।
उन्नत शृंगों से था शोभित शैल-शिरोमणि भाग्यबली,
मंदा की उज्ज्वल धारा थी जाती पद पर प्रणत चली।

२४

वेद, पुराणों की गाथा से ऋषि मुनि जीवन देते थे,
पशु पक्षी भी बैठ वहाँ पर संगति का सुख लेते थे।
उछल कुरंग, कुरंगी, नभ में क्षिप्र छलाँगें भरते थे,
सिंहादिक भी उस आश्रम में बने अहिंसक फिरते थे।

२५

सेना के डर से उस दिन थे दौड़े आश्रम में छाये,
भरत, बड़े देवर मेरे, जब हमें मनाने थे आये।"
सरमा चकित-चित्त बोली, "क्या लिया भरत ने राज नहीं ?
चले मनाने थे तो क्या था सेना का कुछ काज कहीं ?"

२६

"माताएँ थीं साथ, सचिव थे, गुरु थे, प्रमुख सभाजन थे,
संरक्षा के हेतु साथ में आवश्यक ही साधन थे।
अवध-राज्य क्या, तीन लोक का राज्य न उन्हें लुभा पाता,
उनकी विशद बुद्धि को तो था चतुरानन न चुभा पाता।

२७

दिव्य तेज अपने देवर का देखा जो उस काल वहाँ,
विश्वभरण वह भ्रातृ-भक्ति का मिलता स्रोत विशाल कहाँ ?
मेरे पितृदेव भी आये तापस-वेष विलोक थके,
पर, देवर के गूढ़ प्रेम का करके थे, रसपान छके।

२८

एक ओर संकोची प्रभु को, प्रेममूर्ति को उधर निहार,
मग्न सभी थे, भक्ति-सिंधु में सहज विराग, विवेक बिसार।
प्रीति-प्रतीति भरत की थी कुछ थाह नहीं लेने देती,
विनय नीति की नौका को थी पार नहीं खेने देती।

२९

किंतु, भरत ने भार ग्रहण कर प्रभु को जो संतोष दिया,
उसमें ही मानवता को था कीर्ति, कृपा का कोष दिया।
भू का भार निहार रहीं थीं प्रभु की कोमलतम आँखें,
महापाप के महावेग से होती तन की दो फाँकें।

३०

प्रभु के चरण पड़े जिस दिशि को मार्ग उधर ही नूतन था,
उस आनंदमयी अटवी में श्रम का लेश प्रसूत न था।
विपिन-वास इतना सुंदर है, नहीं कल्पना की गति थी,
उस अनंत अभिरामा छवि पर फिरती लोटी-सी मति थी।

दसवाँ सर्ग

१

"ऋषियों के आश्रम का जीवन वन का परम प्रयोजन था,
विश्व-प्रेम का स्रोत जहाँ था, जहाँ घृणा का खोज न था।
सूर्योदय सर्वोदय का था, खिलता जहाँ सरोज सदा,
सद्भावों का मृदु मानस में, था आत्मा का ओज सदा।

२

चित्रकूट से चलकर देखा जीवन वह निर्बाध न था,
निशाचरों के भक्ष्य वही थे, जिनका कुछ अपराध न था।
दमन दक्षिणापथ में फैला वामपथी दुर्वृत्तों का,
चिंतित थे रघुवीर सोचकर अनाचार उन कृत्यों का।

३

अत्रि, अगस्त्य आदि के आश्रम गहन निशा के दीपक थे,
तपोधाम वे तपश्चरण की प्रभुता के उद्दीपक थे।
उनमें चर्बण-शेष अस्थियाँ तपियों के कंकालों की
राशि राशि, थीं कथा सुनातीं दनुजों के जंजालों की।

४

द्रवित हुए आँसू भर लाये नेत्रों में रघुवीर स्वयं,
उमड़ा मानों जग प्लावन को प्रलय-मेघ का नीर स्वयं।
भुजा उठाकर प्रण ठाना था भार मही का हरने को,
विघ्न हटा, वन के सब आश्रम निपट निरापद करने को।

५

मुनियों को आश्वासन दे प्रभु दण्डक वन की घाटी में,
गोदावरी-तीर पर आये पर्वतीय परिपाटी में।
रम्यस्थली मनोरम थी वह अद्भुत आकर्षणवाली,
विश्व-मोहिनी शोभा विधि ने थी मानों उसमें ढाली।

६

गोदा गद्‌गद कंठ किया करती थी कलकल-नाद वहाँ,
बाँटा करती फूल फूलों का प्रमुदित प्रकृति प्रसाद वहाँ।
पर्वतीय पावन प्रदेश का हृदय, जहाँ थी पर्णकुटी।
सुस्पंदित सुस्वन नादों से खगकुल के था स्वर्णपुटी।

७

उस एकांत प्रांत में मैं थी, देवर मेरे साथ सदा,
सींचा करते थे पौधों को दोनों अपने हाथ सदा।
गूंथ प्रसूनों की माला जब प्रभु को थे हम पहनाते,
प्रिय वचनों में भुला हमें वे मंद मंद थे मुसकाते।

८

"वैदेही के श्रमकण इसमें, लक्ष्मण का पुरुषार्थ मिला,
पुष्पों के पल्लव-अधरों पर है दोनों का हास खिला।"
तब मैं कहती, "हास नाथ का सुमनों को है खिला रहा,
नयनों से आह्लाद उमड़ता उनके उर को हिला रहा।"

९

'वह स्नेहार्द्र दृष्टि क्या मुझको प्राप्त सहेली ! होगी फिर ?'
कहती कहती, मूर्छित होती सीता गई भूमि पर गिर।
सावधान करके सरमा ने कहा, "देवि ! बस रहने दो,
मेरे कारण मत प्राणों को दीर्घ दाह से दहने दो।"

१०

"इस आकांक्षा पर ही तो सखि ! जीवन का आधार रहा,
प्रभु के पुनर्मिलन की आशा में ही तो अपवाद सहा।
तुम्हें सुनाऊँगी न कथा तो किसे सुनाऊँगी सरमे !
कौन यहाँ पर सिवा तुम्हारे है मेरा सुहृदे परमे !

११

जनकपुरी के प्रासादों में, न ही अवध के सौधों में,
वह माधुरी मिली, जो पाई पंचवटी के पौधों में।
विधु का वैभव जब जनपद की भू पर वहाँ बिखरता था,
लता-वितान, विचित्र जलाशय सबका रूप निखरता था।

१२

सरिता के तट शैल-पृष्ठ पर कुटी ललित थी राज रही,
नीचे गोदावरी-नीर की निर्मल आभा भ्राज रही।
उसमें व्योम ससोम उतरता तारागण की केली से,
तरल तरंगों की तरणी पर मिलता नदी नवेली से।

१३

पुलकित तन था पतवारों को खेता, पाल हिलाता था,
नित्य नया ही व्योम सोमरस मानों हमें पिलाता था।
तटिनी देकर ताल स्वयं थी एक रागिनी बन जाती,
थी अनुराग-मंडली की तब अनुपम आभा ठन जाती।

१४

पुनः प्रभात-पटी पर हँसती, नटती ऊषा का आना,
पक्षिकुलों को, तरुराजी को, लता ललित को पुलकाना,
कमल-कुलों के होठ हिलाना, भृगों को उन पर लाना,
नित्य नया नाटक-सा होता था सबका हिलमिल गाना।

१५

थे कमनीय कुरंग, कुरंगी मेरे आश्रम में चरते,
करभों और करभियों के दल हिला वितुण्ड हृदय हरते।
नाचे मयूर, मयूरी वन का आँगन थे चंद्रित करते,
मंजु मरालों के मंडल थे मानस को मंद्रित करते।

१६

वर्ण-वर्ण के विहग चुगातीं कितना मोद मनाती थी,
पाकर अतिथि अलौकिक अपने मन में सदा सिहातीं थी।
मुनि-पत्नी भी प्रायः आकर आश्रम पावन करती थीं,
मेरे नव कुल को विलोक वे हर्ष हृदय में भरती थीं।

१७

प्रभु का पार्श्व, भ्रमण की वेला, कथा-प्रसंग पुनीत नये,
ऋषियों का सत्संग सभी थे जीवन के संगीत नये।
हैं अब पुण्य-स्मरण शेष वे बहे काल की धारा में,
इस अभागिनी को वंदी कर तमीचरों की क़ारा में।"

१८

दो बूँदे भर गईं दृगों में कंठ रुद्ध था दीना का,
सरमा ने देखा दुख बढ़ता सीता भाव-विलीना का।
कहने लगी, "हरी होती है देवि! तुम्हारी पूर्व व्यथा,
क्षमा करो, मैं नहीं चाहती सुनना आगे कष्ट-कथा।"

१९

सीता शांत-स्वर में बोली, "इसमें अ-स्वाभाविक क्या?
सरमे! सदा थपेड़े ख़ाता खेता नाव न नाविक क्या?
मेरी नौका के आगे है विस्तृत सागर लहराता,
क्या आश्चर्य, न जो मेरा मन कभी कभी है ठहराता?

२०

एक रात पीली फटने पर ज्यों ही मेरी आँख खुली,
देखा, ललना एक विजय को, देवर पर थी खड़ी तुली।
हाव-भाव दिखलाती वश में करने को उस योगी को,
त्यागी युवा, एक अनुरागी, बंधु-प्रेम-रस भोगी को।

२१

ननद तुम्हारी शूर्पणखा थी, प्रमदा का वर वेष लिये,
सुमनों के गुच्छों से गुंफित बाहु-विलंबित केश किये।
दृढ़ लक्ष्मण के संमुख उसकी सूख चली जब वरमाला,
तब राघव के ही समीप जा उसने प्रेम-जाल डाला।

२२

नारी कुल-कलंकिनी को जब दोनों ने दुतकार दिया,
विकट व्याघ्रिणी विद्रूपा का तब उसने आकार लिया।
बल से रघुवर को वरने को, खाने को मुझ पर धायी,
किंतु, खदेड़ वीर लक्ष्मण ने अंग-भंग कर विकलायी।

२३

खर-दूषण को बुला छिड़ाया दारुण रण तब दुष्टा ने,
घोर कटक से घिरा राम को पूर्ण पिशाची रुष्टा ने।
लक्ष्मण-सहित गुफा में गिरि की प्रभु ने मुझे छिपाया था,
धीर धनुर्धर एकवीर ने पौरुष प्रबल दिखाया था।

२४

धन्वा की टंकारों से थे खंड-खंड गिरि के होते,
भिन्न प्रखरतर तीरों से थे रुंड, मुंड अरि के होते।
रोम-रोम मेरा था थर-थर कँप जाता उन घोषों से,
हाहाकार, हुहुँकारों के रव से, रण के रोषों से।

२५

हो चेतनाविहीन पड़ी मैं धरापृष्ठ पर विकलांगी,
विजयी राघव ने झकझोरा, 'यह सोना क्यों स्वर्णांगी ?'
मृदु-स्पर्श से जगी, रक्त के छींटों से चित्रित तन को,
देख रही थी स्निग्ध दृष्टि से मैं अपने जीवन-धन को।"

२६

"राघव-रमणि ! सुनी है मैंने उन वाणों की जय-गाथा,
झुक जाता है शूर्पणखा के निंद्य कर्म से यह माथा।
पर, कैसे प्रवेश पाया था आश्रम में रक्षोपति ने ?
कैसे धोखा दिया राम को, था मायावी दुर्मति ने ?

२७

उत्सुकता बढ़ रही, बताओ करुणामयी ! घटी कैसे,
घटना वह, जिसके कारण तुम भोग रही हो दुख ऐसे ?"
"लोचन-लोभन माया-मृग का रूप बना मारीच चला,
राघव को था असुराधम ने इसी युक्ति से वहाँ छला।

२८

स्वर्ण-वर्ण चित्रित-तनु आया आश्रम के आगे ज्योंही,
मृगछाला के हेतु किया हठ मैंने रघुवर से त्योंही।
मृगया-प्रेमी प्रभु ने सत्वर पीछा किया कपट-मृग का,
मानों था आलोक स्वयं ही दौड़ चला मेरे दृग का।

२९

कंचन-काया" मायावी मन दोनों पर थे टूट रहे,
मैं भूली, फूली, पर मेरे धन थे मुझसे छूट रहे।
कपट-कुरंग-संग वह धावन मेरे मन का शूल रहा,
सरमे ! वही यहाँ रह रहकर हाय ! हृदय को हूल रहा।"

३०

कहते कहते गिरी जनकजा थी सरमा की गोदी में,
पीलापन ले भरी मूर्छना उसकी मूर्ति प्रमोदी में।
कर सचेत, सरमा कर-जोड़े बोली तब विनम्र वाणी,
"अति होती है, अब न कहो कुछ, क्षमा मुझे दो कल्याणी।

३१

"करके ही अनुमान विपद का रूप हृदय में भर लूँगी,
पर, मर्मांतक कष्ट कथन का नहीं तुम्हें अब मैं दूगी।"
वैदेही ने कहा, "महानद के प्रवाह को बहने दो,
घटने दो इस अटाटोप को, घटना असली कहने दो।

३२

कुछ घड़ियाँ बीती थीं, वन में दिया सुनाई आर्त्त-स्वर ,
'लक्ष्मण ! प्राण बचाओ, निर्जन वन में यहाँ रहा मैं मर ।'
फिर 'लक्ष्मण! लक्ष्मण!' पुकारती, आह आर्त्त की कान पड़ी ,
'जाओ लक्ष्मण ! देखो किसकी संकट में है जान पड़ी ।'

३३

मैंने कहा, किंतु देवर ने उत्तर दिया सहेली ! यों ,
'आज्ञा नहीं आर्य की भाभी ! छोड़ूँ तुम्हें अकेली क्यों ?
निशाचरों की माया का है प्रांत, पिशाचों की छलना ,
प्रभु पर संकट पड़ने को तो मन की है केवल कलना ।'

३४

'हा सीते ! मर चला, तुम्हीं दो त्राण, पुकार सुनो कोई ,'
आई ध्वनि फिर एक, जिसे सुन मैं अपने मन में रोई ।
'देख रहा रे भीरु !' भर्त्सना देकर मैंने देवर को ,
कहा, 'उतार मुझे दे अपने तरकस को, धन्वा, शर को !

३५

देखूँगी मैं स्वयं, कौन दुखिया है, मुझे पुकार रहा ,
क्षत्र-कलंक ! न मर्यादा का भी कुछ तुझे विचार रहा ?'
रक्तनेत्र लक्ष्मण ने नत हो कहा, 'न, बस, कटु वाक्य कहो ,
माता के सम हो, अब अपने रचे गेह में आप रहो ।

३६

जाता हूँ उल्लंघन करके वहाँ आर्य के वचन अभी,
इस रेखा का उल्लंघन पर, करना किंतु न भूल कभी।'
रेखा खींच गये वे वन को मैं आश्रम में थी सूनी,
कभी हृदय को करती हल्का, कभी चित्त-चिंता दूनी।

३७

पशु, पक्षी जो अन्न नित्य ही पाते थे वे घिर आये,
चोंच खोलते खड़े चतुर्दिक्, कोई मुख को उचकाये।
उनमें एक नवीन अतिथि, जो तन में भस्म रमाये था,
जटाजूट में अग्निपुंज-सा दीप्त त्रिपुंड लगाये था।

३८

कर में एक कमंडलु था, थी एक पार्श्व में मृगछाला;
दमक रही उसके ललाट पर तपस्तेज की थी ज्वाला।
बोला, 'वैदेही ! भिक्षा दे, क्षुधा-क्षुब्ध है अतिथि खड़ा।'
सादर मैंने कहा, 'विराजें देव ! कुशासन वहाँ पड़ा।

३९

आने ही को हैं कुछ क्षण में बंधु-सहित श्रीराम यहाँ,
सेवा स्वयं करेंगे,' कहकर मैंने किया प्रणाम वहाँ।
'मैं क्षुधार्त्त हूँ, भिक्षा दे अविलंब अन्नदे ! क्या करती ?
कुल-मर्यादा के भय से भी रघु-कुल-वधू ! न न करती ?

४०

क्या तू विरत अतिथि-सेवा से हो कुल-मान घटायेगी ?
क्या आश्रम के सत्कारों से भी तू हाथ हटायेगी ?'
कहते कहते कोपानल में दग्ध रुष्ट था क्रूर खड़ा,
भीतहृदय रघुवीर-वाण की रेखा से कुछ दूर खड़ा।

४१

'लेगी शाप कि भिक्षा देगी, वोल विदेहकुमारी ! तू,
अंधे होंगे राम, फिरेगी संतत वनी भिखारी तू।'
कृत्रिम कोप न समझ सकी मैं सत्वर घूँघट काढ़ वहाँ,
ले भिक्षान्न बढ़ी आगे को थी रेखा की आड़ जहाँ।

४२

ज्योही लाँघ अर्गला आई, छद्म-यती ने पकड़ लिया,
उभय भुजाओं को दृढ़ता से था पामर ने जकड़ लिया।
जटाजूट हट गया, कमंडलु, मृगछाला थे दूर पड़े,
मैं चिघाड़ छटपटाई, कर उसके थे भरपूर कड़े।

४३

राजरथी का वेष, भयंकर योधा था अब संतापी,
रथ में पटक कुवाक्य सुनाता कहता था क्या-क्या पापी।
लज्जा से झुक झुक जाती थी उन वचनों को सुन सजनी,
रही न मेरे पास उस समय हा ! हीरे की एक कनी।

४४

क्रंदन करके कानन को था बहुतेरा गुंजाया पर,
पवन-पथी रथ की घड़घड़ में लीन हो गया मेरा स्वर।
भय से चकित चोर था रथ को वायु वेग से हाँक रहा,
चारों ओर देखता मानों उसको कोई ताक रहा।

४५

पंजरबद्ध पड़ी स्यंदन में हाहाकार मचाती मैं,
जिसे जानती थी सहाय को पल-पल उसे बुलाती मैं।
व्योम शब्दवाही ने सुनी न, सुनी न वायु महाबल ने,
सुनी न मेरी गर्जनकारी जीवनप्रद बादल-दल ने।

४६

टेर नहीं पहुँचाई मेरी रघुकुलमणि तक वीरों ने,
सर्वसमर्थ, सृष्टि की सेवा के साधन इन धीरों ने।
नहीं भ्रमर ने, नहीं काक ने कुछ संदेश सुनाया जा,
नहीं वहाँ जा कूकी कोकिल मेरे शोकगीत को गा।

४७

किसी हंस का हृदय न पिघला, शुक, सारिका न कुछ बोले,
नहीं 'कपोत, कपोती' ने भी उड़कर अपने पर खोले।
टुक टुक निरख निराश रही थी मेरे आश्रम की हरिणी,
सूँड़ उठाये ठिठक गई थी करुणा करती-सी करिणी।

४८

गूँगी प्रकृति विषण्णमुखी थी मेरी विपदा पर रोती,
मैं लहरें ले रही पड़ी थी अपनी संज्ञा को खोती!
लिये उतार आभरण मैंने, फेंके एक एक करके,
पड़े किसी के हाथ खोज तो देंगे यही टेक धरके।

४९

फेंका कंठहार, कंकण भी, कटि-किंकिणी फेंक डाली,
फेंके कुण्डल, कर्णफूल भी, मंजीरें मणियोंवाली।
सेतुबंध का हेतु वही हैं आली! आज बने गहने,
इसके लिए भला जाती हो क्यों रावण को कुछ कहने?

५०

पवनवेग से पुष्पक करता पार नदी, नद, शैल महा,
वक्षस्थल को चीर व्योम के जाता दक्षिण-ओर रहा।
शैलपृष्ठ से एक वीर ने, शूर-सिंह ने ललकारा,
'रे रावण! तू बता कहाँ से हर लाया किसकी दारा?'

५१

धावा बोल, बढ़ा रावण पर मानों गिरि ही पक्ष-धरे,
उसके भीमनाद से वन के जीव, जंतु थे सभी डरे।
घोर गर्जना से हय काँपे, स्यंदन अस्थिर हो डोला,
देखा भीममूर्ति योधा को ज्योंही मैंने पट खोला।

५२

खड़ा सामने था रावण के वह सक्रोध धिक्कार रहा,
मौन दशानन भी था करके आँखें लाल निहार रहा।
'रमणी-रत्न चुराना तेरा नित्य-कर्म है पापी रे!
तू लंकाधिप ही है मैंने जान लिया संतापी रे!

५३

शस्त्रधारियों के कलंक रे! किसका गेह उजाड़ चला,
किस माली के प्रेमवृक्ष को नीच! समूल उखाड़ चला।
रे अपवाद शूर-वीरों के! योधा-वंश लजाता तू,
दुरुपयोग विद्या, वल का कर भोग-समाज सजाता तू।

५४

भूतल से अस्तित्व अधर्मी! तेरा आज मिटा दूँगा,
कुछ भी हो, निरीह अवला का संकट-जाल छुटा दूँगा।'
सुनते ही तलवार निकाली स्वर्ण-मूठ झंकार उठी,
दोनों योधाओं के भैरव-गर्जन की हुँकार उठी।

५५

तुमुल युद्ध छिड़ गया, पक्ष थे पक्षी के तड़-तड़ पड़ते,
तीक्ष्ण, कठोर, नुकीले पंजें कंधों के ऊपर गड़ते।
चोंचों की चोटों से भी था वपुष विदीर्ण रथीवर का,
छूट रहा था धीरज मानों यातुधान-भट पीवर का।

५६

मचता देख महारण आँखें मूँद पड़ी मैं स्यंदन में,
पक्षी के जय-हेतु कर रही थी देवों का वंदन मैं।
'रावण के रिपु इस योधा को बल देकर संताप हरो,
हे हरि ! राजरथी पामर को मार मही का पाप हरो।'

५७

झपट-दपट संपूर्ण शक्ति से दुष्ट दशानन ने करके,
अंगच्छेद किया उस खग का रण-रव से वन को भरके।
झटका एक लगा रथ में, मैं गिरी धरा पर, पर न मरी,
छिपने चली, किंतु भू काँपी, घुटनों के बल गिरी, डरी।

५८

था रावण का हुहुंकार भी बढ़ता ही बढ़ता जाता,
क्षीण-स्वर ही पक्षी का था मेरे कानों में आता।
मैं अचेत हो गई, उधर उस पक्षी को लेकर धरणी,
देख रही थी कटे पंख त्यों उसकी वह अद्भुत करनी।

५९

मूर्छा हटी, विलोका रावण कहता यों मुझसे, 'सुमुखी !
होती है तू हे वरानने ! क्यों इस रण के हेतु दुखी ?
वैनतेय-वंशज जटायु था, मरने ही को था आया।
देखो, चलो, पराक्रम मेरा, उसकी पंखकटी काया।'

६०

भू पर पड़ा जटायु वीर था घायल तन से रक्त बहा,
तब रावण ने बड़े गर्व से उसे सुनाकर वचन कहा।
'किसने कहा मढ़ से था तू भट-मणि रावण से भिड़ना,
अबतक चाहा नहीं किसी ने जिससे संगर का छिड़ना।'

६१

'लड़ते लड़ते धर्मयुद्ध में गिरा, न मुझको लज्जा है,
रण-क्षेत्र में संमुख मरना ही वीरों की सज्जा है।
नारी-चोरी ! शृगाल-तुल्य तू सिंही को है हर लाया,
क्या गति होगी तेरी, तू है इसको नहीं समझ पाया।'

६२

सुनकर रक्षोपति ने रथ में बिठा मुझे वल्गा थामी,
ऊपर उठने ही को था वह स्वर्णविमान नभोगामी।
विनती शूर-सिंह से मैंने की, 'मैं जनकनंदिनी हूँ,
सीता नाम, वधू रघुकुल की, वन में बनी वंदिनी हूँ।

६३

राघव से हो जाय भेंट तो पता बता देना उनको,
हरी गई सूने आश्रम से तात ! जता देना उनको।'
रथ चल दिया मनोरथ-गति से व्योम-वीथिका में उड़ता।
ऊँचा कहीं, कहीं सीधा, तो कहीं शैल-पथ से मुड़ता।

६४

देखा नीचे ऊर्मिमालिका अंबुधि की थी लहराती
नील सलिल की, नीलगगन से मिल श्यामा छवि छहराती।
महामत्स्य, मकरों, भुजगों की, जलजीवों की भीड़ वहाँ,
उछल उछल छिटकाती जल थी नाना विधि से क्रीड़ वहाँ।

६५

चाहा मैंने अतल-गर्भ में ले समाधि तर जाऊँ मैं,
सजग रथी ने रोका, जबतक कूद वहाँ गिर पाऊँ मैं।
सागर के इस तट पर झलकी स्वर्णिल लंका की छवि से,
क्षितिज-भूमि पर एक रश्मि-सी छूट रही रमते रवि से।

६६

उसी हेमनगरी में पंजर यह अशोकवन मुझे मिला,
पर, पंजर में कभी न पक्षी देखा रहता पंख-फुला।
जिसमें जीना ही मरना है क्या मैं इसे निवास कहूँ?
पामर प्राणों को भरना है इसको क्या विश्वास कहूँ?"

६७

विनतवदन सरमा बोली तब, "देवि! तुम्हारे तापों पर,
रोई मैं, रोये पति मेरे कितने हैं इन पापों पर!
कर न सके कुछ, हुए निरादृत शरण गये वे प्रभुवर की,
कष्ट-कथा श्रीमुख से सुन अब छाती है जाती धड़की।"

६८

"हे हितैषिणी ! सुहृद विभीषण और तुम्हारे हीं बल से,
जीवित हूँ मैं छली गई भी दुष्ट दुरात्मा के छल से।"
इतने ही में सुनी पद-ध्वनि चेरी-दल के आने की,
चौंक कुरंगी-सी सरमा ने आज्ञा ली घर जाने की।

६९

"रक्षोराज पता पा जावे तो फिर मेरी कुशल नहीं,"
इतना कह वह चपला-गति से गई दूर थी उछल कहीं।
चेरी-दल ने विनय-मूर्ति को आसन पर आरूढ़ वहाँ,
देखा, हर्षित थी वंदी को पा स्वकोष्ठ में मूढ़ वहाँ।

७०

नाच कूदकर कहती थीं, "लो आज तुम्हारा निर्णय है,
निश्चित दोनों रघुवीरों पर शक्र-विजेता की जय है।
बचने को सुग्रीव, विभीषण, हनूमान के प्राण नहीं,
जामवंत, नल-नील न, अंगद का भी होना त्राण नहीं।

७१

वानर-कटक बचेगा शेष न, निष्कंटक लंका होगी।
रावण के बल में जो तुमको, दूर सभी शंका होगी।
विधुवदनी अब शीघ्र बनोगी हेमपुरी की पटरानी।
सभी सुरासुर इन चरणों में नत होंगे हे शुभदानी!"

७२

उन उल्लसिताओं की बातें सुनकर सीता सन्न रही,
चिंता में डूबी दृढ़ मन थी, यद्यपि शोक-प्रपन्न रही।
देख रही थी जीत, हार के पलड़ों को चढ़ते, गिरते,
दुख के कोप, सौख्य के सुंदर दिवसों को चलते फिरते।

———

ग्यारहवाँ सर्ग

१

सविता के स्यंदन को लाया तम का हृदय विदार अरुण,
लीन वंदना में सशंक था वैदेही का हृदय करुण।
अरुण-वर्ण किरणों की छाया रंग पलटती थी सुखदा,
आ जाती थी किंतु ध्यान में बात दासियों की दुखदा।

२

दो दिन से संग्राम-वृत्त का पता न लेश लगा वन में,
दहक दहक उर आग उठी थी, सुन संघर्षण-रव, तन में।
कुंभकर्ण भूधराकार भट, रण-मद-मत्त करीश्वर-सा,
भीमनिनादी, कंपनकारी, गर्जनग्राम नदीश्वर-सा।

३

क्रूर शूलधर शंभु-तुल्य, हाँ विद्ध राम के वाणों से,
मिट्टी में मिल रण-प्रांगण की, विदा ले चुका प्राणों से।
दक्षिण वाहु टूट रावण का मानों गया स्वर्ग को उड़,
पड़ा महा नैराश्य-गर्त्त में कंपित दनुजवर्ग था जुड़।

४

पारावार दुःख के में था निःसहाय दशकंठ बहा,
भीमबली समशक्त बंधु का गया न वज्राघात सहा।
मेघनाद ने तब निज वर का भेद सुना आश्वस्त किया,
धड़क-धड़क उठती चिंता के धूम-पुंज को ध्वस्त किया।

५

"तात! नहीं भवितव्य हाथ में छोड़ हमें पितृव्य गये,
पर, क्या थकित हुए हैं पौरुष इंद्रजीत के नये नये?
पराभूत रघुवीर करेंगे ऐसा रण, न उठी शंका,
उन्हें शौर्य-निश्शेष करूँगा, आज बजा जय का डंका।"

६

तुमुल युद्ध आरम्भ हुआ है आज भीम निर्घोषों से,
सौ-सौ चपला चमक रही हैं यत्र तत्र असि कोषों से।
उठे गगन में ऊँचे-ऊँचे लड़ते यथा महीधर हैं,
सुभट भयंकर, शैल-श्रृंग ज्यों गिरते टूट कहीं पर हैं।

७

उनके शव के ढेरों से हैं पुनः शैल-से उठ जाते,
ऊपर जिनके काकों, कंकों, गृद्धों के दल मंडराते।
वाणों की घिर रही घटा से ढकता तरणि, निशा आती,
माया के बल मर्कट-सेना सहज न देख दिशा पाती।

८

त्रिजटा कभी, कभी सरमा की आकृति आती भिन्नमना,
जाती संकट, सिद्धि उभय के मारक, मोहक चित्र बना।
पर अनिष्ट की शंका का था अंत रहा सुख में होता,
हृदय धैर्य को नहीं, नहीं था आशा को मानस खोता।

९

संध्या हुई, अनी दोनों थीं लौटी निज-निज धामों को,
व्यग्र जनकजा ने था काटा पल-पल दिन के यामों को।
आकुल थी रण-वृत्त न पाकर हृदयविदारक रव आया,
लंका से ज्योंही नगरी में मेघनाद का शव आया।

१०

शिरोरत्न था लुटा, हेमलंका की आशा थी टूटी,
निराश्रिता-सी पड़ी विमोहित पुरटपुरी छवि से छूटी।
रावण, रुदन करानेवाला, फूट-फूट कर था रोता,
सती प्रमीला का सर्वस्व सुवर्ण-धरा पर था सोता।

११

दीपमालिका जहाँ जली थी, अंधकार का राज वहाँ,
जुड़े जहाँ संगीत-साज थे, बैठा शोक-समाज वहाँ।
लक्षण से अनुमान जनकजा करती थी कि खड़ी देखी,
दानवियों के संग त्रासदा त्रिजटा दंड-छड़ी देखी।

१२

आग निकलती थी नेत्रों से भीम भुजंगी रुष्टा के,
होठ काँपते, कर में चमचम करती थी असि दुष्टा के।
बोली, "अरी दुःखिनी तूने अपनी-सी लंका कर दी,
उसके सुख, सुहाग की बिंदी अपनी आहों से हर दी।

१३

मेघनाद-सा वीर भुवनमोहन भट-रत्न गया मारा,
करता यज्ञ यज्ञशाला में, कपटी लक्ष्मण के द्वारा।
छद्म तपस्वी इसी भाँति क्या निकले असुरों को छलने ?
तू भी तो पत्नी है उनकी, कैसे कम होगी ललने !

१४

ले मैं तेरा शीष काट कर कंटक दूर हटाती हूँ,
अभी कुजाते ! तुझे मिटाकर करती ठंडी छाती हूँ।
लंकेश्वर ने उस दिन तेरा काट दिया यदि शिर होता,
तो रक्षोकुल आज न अपने वीर-शिरोमणि को रोता।"

१५

असि-प्रहार करने को आगे बढ़ी कि चेरी ने टोकी,
'स्वामी का आज्ञा-विरोध क्यों ?' कहकर त्रिजटा थी रोकी।
त्रिजटा रुकी, त्रास बहु देती गईं चेरियाँ वासों को,
प्राण सिसकते थे सीता के ले उद्विग्न उसासों को।

१६

डूबी गहन विचारों में थी मन में आलोचन करती,
लोकों की दयनीय दशा से व्यथित वारिमोचन करती।
"क्या होता है ? क्यों होता है ?" सोच सोच थी हहराती।
आर्त्ति-नाश को दुख-दग्धों के मनोव्यथा थी घहराती।

१७

"आक्रोशों से ललनाओं के फटती है मेरी छाती,
हटता नहीं किंतु हट से है कर्बुरेंद्र कुल का घाती।
रण-लिप्सा में मत्त दैत्य-कुल अग्नि-शिखा का शलभ बना
भस्म हो रहा, रघु-सिंहों के भुज-विक्रम का करभ बना।

१८

दौड़ रही उस पर असि लेकर यहाँ मंद दानव-दासी,
सहती है अपमान अधम का सीता रघुवीरोपासी।
आशंकाओं से ही क्षण क्षण छाती है धड़का करती,
वामनेत्र के साथ भुजा फिर बायीं क्यों फड़का करती ?

१९

करना ही संहार इष्ट तो फिर क्यों इतनी अवहेला ?
धैर्य छुटाकर ही निज जन का, लेगी क्या प्रभु की खेला ?
समर-मरण में मिल जाती है योधाओं को मुक्ति वहाँ,
पर, इन बाला, वृद्ध निरीहों के जीवन की युक्ति कहाँ ?

२०

कैसा वह उद्धार ? सुधार न जीवन की गति में आया,
बदला नहीं विचार, न भाव उदार कहीं मति में आया।
निर्बल के बल ! बल-प्रयोग की कुछ ऐसी उत्तम विधि हो,
जिसमें जन-लोकों के हित की संचित मंगल की निधि हो।

२१

स्वस्थ सभी निज-निज कर्मों में दत्त परस्पर साथी हों,
संरक्षा को शूर चाप-शर साध, बांधते भाथी हों।
सभी भुवन-सेवा में देखें सर्वश्रेष्ठ आचार-प्रथा,
खुला रहे निष्कपट हृदय में मानवता का द्वार तथा।"

२२

पुत्र-शोक से क्रुद्ध दशानन कूद पड़ा समरांगण में।
मानों प्रलय मचाता आया काल स्वयं योद्धा-गण में।
खोज रहा था सुतघाती को, लक्ष्मण को, अति उग्र बली।
था पुकारता, "कहाँ भटाधम रे ! लक्ष्मण रे ! क्षुद्र छली !"

२३

उगल रहा था प्रलयानल ही अपने पावक-बाणों से,
सुग्रीवादि भटों के ऊपर बीत रही थी प्राणों से।
सेना विचलित हुई, भालु भट, वानर वीर पुकार उठे,
'पाहि-पाहि रघुवीर ! त्राहि,' ये तीर नहीं, अंगार उठे।

२४

श्याम घनच्छवि राघव ने तब अपने वरुण-वाण-द्वारा,
हँसते-हँसते बुझा दिया बल बीस भुजाओं का सारा।
मर्कट-भट तब उग्रवेग से रक्षोदल का दर्प मिटा,
महा-महा भट मर्दित करके चढ़े धरा पर उन्हें लिटा।

२५

कोप कठोर किया रावण पर, तोड़ा रथ, भट था नीचे,
किंतु, सूत ने अन्य यान पर चढ़ा लिया वह दृग-मींचे।
ले लंका को गया, विलज्जित दशकंधर दूने बल से,
सूर्योदय के साथ समर में आ धमका पूरे दल से।

२६

राघव को रथ भेज इंद्र ने रथी-रथी का साम्य किया,
वानर-वृंद, कपीश, विभीषण, योधाओं का काम्य किया।
द्वंद्व युद्ध का दृश्य देखते दोनों दल हुंकार उठे,
वाण सपक्ष फणीशों-से उड़, थे नभ में फुंकार उठे।

२७

धरा डगमगी, भूधर डोले, दिग्गज थे चिंघार उठे,
ऌपट-झपट से अंतरिक्ष में सुर-विमान धुधकार उठे।
काट-काट शिर बाहु गगन में राघव ने रिपु के डाले,
नये निकल आते थे पर वे, पड़ते थे उनके लाले।

२८

नाराचों से बिंधे चंग-सम उड़ते थे नभ को घेरे,
चिंताग्रस्त चकित यूथप तब राघव ने अपने हेरे।
सखा विभीषण पर प्रभु ने फिर एक हताश दृष्टि डाली,
नाभिकुंड का भेद बता तब उसने प्रभु-प्रतीति पा ली।

२९

हुआ निशागम, त्रिजटा ने जा वैदेही को फिर छेड़ा,
"सुन सीते! है समर हो रहा असुराधिप से अब टेढ़ा।
शीष, भुजाओं का छेदन कर राघव कौशल दिखलाते,
छा जाते वे सब तो नभ में, नये निकल फिर हैं आते।

३०

रावण ही रावण दिखलाते कीश-कटक के काल बने,
बैठे तापस हार, मुंड वे उनका जीवन-जाल बने।
कल दोनों का वध होते ही होगा युद्ध-विराम यहाँ,
तुझे मुक्त करने आवेगा दश-ग्रीव बलधाम यहाँ।

३१

आशा त्याग राम की जय की, भोग तपस्या का फल तू,
मत अजान बन, देख भाग्य को, समझ न रावण को छल तू।"
उपालंभ देकर यों त्रिजटा गई गर्विता घर हँसती,
पर, सीता, के अंतस्तल में अनी शूल की थी धँसती।

३२

अतिशय दुखित विकल वैदेही थी प्रारब्ध निहार रही,
बार बार निज को, दोषों पर पछताती, धिक्कार रही।
"हा! रघुनाथ! महा तापी को रण में अधिक खिलाते क्यों?
मायाविनी मधुर आशा का आश्रय अधिक दिलाते क्यों?

३३

नहीं मानता है मेरा मन, प्रभु-बाणों से शीष कटे,
फिर भी कर आच्छन्न गगन को वही विजय की गिरा रटें।
अश्रुतपूर्व हो चुकी लीला, देव अतीव अधीर हुए,
कर लो अब संहरण विभो! हैं श्रमित सभी भट, वीर हुए।"

३४

करती विनय विदेहनंदिनी निद्रागता नयन खोले,
पड़ी प्रतीक्षा-सी करती थी, मानों कोई कुछ बोले।
किंतु पड़ी ही रही, सवेरे पेड़ों पर पक्षी बोले,
धीरे-धीरे बहा पवन भी हिला हृदय के हिंडोले।

३५

ऊषा के मंडल में देखी कुछ अद्भुत आभा विकसी,
प्रकृति-पटी के परिवर्तन पर जाती थी मति भी बिक-सी।
रण-क्षेत्र से किंतु उठ रहा वही घोर गर्जन-रव था,
फैला विकट-वाहिनी-वन में मानों विशिखों का दव था।

३६

देख कटक-संहार दशानन मायामय रण पर आया,
चित्र विचित्र जंतु, जीवों से अंतरिक्ष को था छाया।
बरसा देता तप्त बालुका, पयःस्रोत था प्रकटाता,
भूत, पिशाचों की प्रवृद्धि से सुभटों को था भटकाता।

३७

बार बार रघुवीर भुजा; शिर काट रहे थे लाघव से,
रावण भी रावण बनकर ही आज भिड़ा था राघव से।
रावण के उर में निवास था वैदेही सुकुमारी का,
वैदेही के उर में रघुपति सकल-भुवन-उर-धारी का।

३८

रावण का उर-वेध करें तो भुवन मात्र का ही क्षय था,
राघवेंद्र को दानवेंद्र के वध में इसका ही भय था।
कटते पल-पल शीष विकल था ध्यान हटा वैदेही से,
छिन्न कर दिये दश तीरों ने दशों शीष तब देही से।

३९

एक वाण ने नाभिकुंड का सोख अमृत तत्काल लिया,
खंड-खंड कर महारुंड था भू पर डाल विशाल दिया।
काँप उठी धरणी थी उसके गिरते भूधर-से शव से,
फटने लगा व्योम का उर था यातुधान-हाहा-रव से।

४०

जय-घोषों से भालु, कीश थे घन-गर्जन उपमान बने,
पुष्पों की वर्षा करते थे नभ में चढ़े विमान घने।
तूर्यनाद से मध्य दिवस में महीसुता थी चौंक पड़ी,
देखी, सुर-विमान से संमुख उतर शची प्रत्यक्ष खड़ी।

४१

"देवि ! विजय संवाद यही है, आओ तुम्हें सजाऊँ मैं,
वेणी गूंथ, वसन-भूषण सज, शुभ सिंदूर लगाऊँ मैं।
हैं अभिषेक कराने को ये अंगराग कर लिये खड़ीं,
अमरवधू रघुराज-वधू के पद धोने उत्कंठ बड़ी।"

४२

पुलक-प्रफुल्लित सीता ने तब कहा बड़ी ही लज्जा से,
"इंद्राणी ! क्या काम भला इस तन का सुंदर सज्जा से ?
अपने प्रभु के संमुख यों ही जाऊँगी पंकिलवसना।
देखेंगे वे दशा आप, कुछ कह देगी नीरव रसना।"

४३

कहा महेश-प्रिया ने, "क्या यह मणि मलिना ही मंजुमुखी,
राजेगी रघुराज-करों में, तुम्हीं बताओ चंद्रमुखी ?
खनि में पंक-सनी रहती है, पर उसको उज्ज्वल करके,
रखते हैं राजन्य मुकुट में रज की धूमिलता हरके।"

४४

वैदेही हँस पड़ी, उमा ने बाहु-पाश में बांध लिया,
फिर सब सुरांगनाओं ने मिल सीता का शृंगार किया।
चेरी-दल अत्यन्त भीत हो सेवा में संलग्न हुआ,
इंद्राणी के इंगित पर था फिरता मानों मग्न हुआ।

४५

नीचा मुँह करके त्रिजटा थी आँख बचाती सीता से,
किंतु विदेहनंदिनी ने तब कहा सप्रेम सभीता से।
"अहो ! अशोकारण्यसंगिनी ! दूर-दूर हो क्यों फिरती ?
आज विदा के समय उदासी क्यों चेहरे पर है घिरती ?

४६

दास-भावना बोला करती दुर्वचनों में भृत्यों के,
साधन-यंत्र हुआ करते हैं वे स्वामी के कृत्यों के।
दुर्व्यवहार तुम्हारे का है मैंने बुरा नहीं माना,
सेवा का कुछ, कुछ कुल-शिक्षा का फल है उसको जाना।

४७

होता है संसर्ग-जन्य ही गुण-दोषों का उदय सदा,
उसके ही वर्तन से मानव बनता निर्दय, सदय सदा।"
"देवि ! न छूटे संस्कार वे, पाकर पद-रज पावन भी,
मिटा न मोह मंद मन का, पा दर्शन भूतल-भावन भी।

४८

क्षमामयी ! अपराध न मेरे क्षम्य, शूल से साल रहे,
मुझे दण्ड दो, जिससे निर्मल मन का पंकिल ताल रहे।"
"पश्चात्ताप हुआ करता है अपना आप दण्ड त्रिजटे !
पाप-पुंज का दाह उसीसे होता है प्रचंड त्रिजटे !"

४९

त्रिजटा त्रपा-ग्रस्त पदतल में नतशिर पानी पानी थी,
विस्मय-मुग्ध विमल वाणी पर रमा, उमा, इंद्राणी थी।
वामावृंद हेमनगरी से मान-प्रदर्शन को आया,
सीता शक्ति महारानी के अंतिम दर्शन को आया।

५०

सरमा प्रथम बधाई देती पुलक-प्रसन्न पड़ी पद में,
किंतु जनकजा उन दुखियों को देख बही दुख के नद में।
आंसू के मुक्ताओं ने ही भाव हृदय का झलकाया,
तभी उमड़ आनंद-सिंधु-सा देखा मारुतसुत आया।

५१

विचकित वदन देखता था सुर-ललनाओं की पंक्ति वहाँ,
दनुजाओं की मंजु मूर्तियाँ दिखलाती अनुरक्ति वहाँ।
माता सीता सौम्य मूर्ति थी दिव्यालंकृत खड़ी जहाँ,
पवनपुत्र के प्रिय दर्शन से हर्षितवदना खड़ी जहाँ।

५२

माथा था माँ के चरणों पर, माँ का कर कपि के शिर था,
भावों का उद्रेक उमड़कर आया नयनों में घिर था।
जगदंबा का स्नेह निरख सब भूल रहीं अपने तन को,
धन्य कह रही थी मारुतसुत, धन्य अंजनीनंदन को।

५३

रघुवीरों की कुशल पूछती सीता ने आशीष दिया,
हनूमान ने वृत्त-निवेदन तब पद-पद्म-समीप किया।
"जननी ! सकुल, सदल रावण को मार मुक्त कर दी लंका,
तोड़ दिया दुर्दम्य दुर्ग यह, जो त्रिकूट पर था बंका।

५४

सेतु-बंध से पाश-बद्ध है पाशी सागर लंका का,
अंत किया है देववृंद की, ऋषि-मुनियों की शंका का।
रण-प्रांगण में रक्तोदधि है रक्षोदल का लहराता,
उसके ऊपर विजय पताका-पद रघुपति का फहराता।

५५

रण-शोभा से मंडित राघव उभय विलसते हैं ऐसे,
विकच वसंत-श्री में लसते किंशुक के तरु हैं जैसे।
वानर-वीरों, भालु-भटों की भीड़ चतुर्दिक् सोह रही,
मंजु मुखच्छवि महा धनुर्धर रघुवर की मन मोह रही।

५६

किया विभीषण के मस्तक पर राजतिलक था राघव ने,
पूरा किया आज उस वर को है दशभाल-पराभव ने।
सिंहासनारूढ़ होंगे कल बंधु विभीषण, हेमपुरी
रामानुज के पुण्य-पदार्पण-द्वारा होगी धर्म-पुरी।"

५७

सीता बोली, "मेरे लक्ष्मण मुझे, न लेने आवेंगे?
क्या मुझको अपराध-क्षमा का दान न देने आवेंगे?"
"क्या कहती हो माँ! लक्ष्मण को, वीर, विलक्षण त्यागी को?
इन चरणों के दास, राम के नित्य निरंतर रागी को।

५८

मैं संदेश मात्र लाया हूँ, वही लिवाने आते हैं,
क्या बतलाऊँ माँ के दुख पर वे कितने पछताते हैं।
पर, मैं पीछे रहा, शची ने पहले ही संवाद दिया,
मुझे निदेश मिला तब आया, मैंने नहीं प्रमाद किया।"

५९

"सुत! संदेश मिला तुझसे ही, कृपा शची की थी वह तो,
ललना-सुलभ वेदना उनकी युक्ति रची की थी वह तो।"
"देख रहा हूँ माँ! इस वन को आज सजाती वन देवी,
पत्र पत्र में, पुष्प पुष्प में प्रकट हो रहे पद-सेवी।

६०

जिसे उजाड़ तोष पाया था वही विपिन अब हरा हरा,
देता है आह्लाद अतुल माँ ! इस स्वरूप से सजा, भरा।
माँ ! रघुनाथ देख पाते जो रूप विभूषण-हीन कहीं,
तो त्रिलोक की कुशल न रहती, हो करुणा-जल-लीन कहीं।

६१

नयनों से वह प्रलय-वारि की धारा उन्हें डुबा देती,
कपि-दल को किस भाँति हर्ष तब माँ ! यह चरण-प्रभा देती ?
इसके हेतु रहेगा वनचर-लोक शची का आभारी,"
हँसी शची, गिरिजा सब सुनकर उक्ति पवनसुत की प्यारी।

६२

विदा माँग जब हनूमान ने लौट शिविर में वृत्त कहा,
सुन, रघुवीर-सहित सब दल था परम-प्रफुल्लित-चित्त रहा।
यहाँ जनकजा ने सरमा से कहा, "बधाई लो सजनी !
बीत गई अब अनाचार की, अति अनीति की है रजनी।

६३

जन्म हुआ नूतन प्रभात का, किंतु प्रसव की पीड़ा से
तड़प रही लंका नगरी है, विनत स्वयं मैं व्रीड़ा से।
मेरे कारण इन अबलाओं, इन बालों ने दुख भोगा,
किंतु विभीषण के शासन में, आशा है, अब सुख होगा।"

६४

"अपने ही पापों का घट जब फूट रहा हो हे रानी !
लाता स्वयं मृत्यु को है तब उसका विष-संयुत पानी।
व्यर्थ दोष देती हो अपने पदागमन को क्षेममयी !
निखर गई इस तपोभूमि के तप से लंका हेममयी।"

६५

कह यों सरमा ने चरणों की रज थी शिर पर धारण की,
मानों थी विभूति ही पा ली रक्षोकुल के तारण की।
देखा, लक्ष्मण लाल ललकते आते हैं, सीता धाईं,
अति अधीर नत उन्हें उठाकर स्वयं अंक में भर लाईं।

६६

विधु-सा वदन अंक में शोभित था जगदंबा सीता के,
नयन नीर भर भर लाते थे स्नेहातुरा पुनीता के।
थे निस्तब्ध निरखते मानों चित्र-खचित सब वहाँ खड़े,
पाकर कोमल क्रोड़ सुमित्रानंदन मोद-निमग्न पड़े।

६७

फिर, सीता के पदतल में वह वीर बैठकर यों बोला,
"भाभी ! मुझे भेज वन में यह नूतन आश्रम आ खोला !
जाने, उस कुलग्न में मेरा मन क्यों इसीलिए डोला।"
"हँसना ही आता है तुमको संकट में भी मिठबोला !"

६८

"संकट क्या-? यह इंद्र-वांछिता सभा न किसको भायेगी ?
देख यहाँ की शोभा, कह दो हँसी न किसको आयेगी ?"
"इंद्राणी की कृपा न होती तो क्या तुम्हें रुलाती मैं ?
दीन, हीन, दुर्दशापूर्ण क्या अपना चित्र दिखाती मैं ?"

६९

"अच्छा भाभी ! चलो, आर्य हैं वहाँ प्रतीक्षा में बैठे,
चिंतातुर हैं समर-विजय की उतर परीक्षा में, बैठे।
स्यंदन खड़ा, कटक होगा सब नयन लगाये दर्शन को,
हैं सन्नद्ध शूर सेना के सब राजसी प्रदर्शन को।"

७०

गान-वाद्य के साथ वहाँ का सीता-संग समाज चला,
सुरांगनाओं, रक्ष-रमणियों का दल, लंकाराज चला।
लक्ष्मण सजग स्वयं स्यंदन के संग धनुर्धर थे प्रहरी,
अंगद, पवनपुत्र थे पीछे उठती थी उमंग-लहरी।

७१

वनदेवियाँ विकच पुष्पों की मालाएँ थीं चढ़ा रहीं,
वल्लरियाँ कर-पल्लव को थीं वनबाला-सी बढ़ा रहीं।
विदा दे रहा वन, निज घर को लौटी लक्ष्मी जाती थी,
जिसके तन से स्वर्ण-वर्ण-द्युति सांध्य सुंदरी पाती थी।

बारहवाँ सर्ग

(उपसंहार)

१

रत्नाकर के तीर क्षितिज पर शूरों के उर छलक रहे,
दर्शन को उत्कंठ तृषातुर लोलुप लोचन ललक रहे।
दृष्टि पताका-पट पड़ते ही सीता के शुभ स्यंदन का,
जय-जयकार गगन में गूँजा कपि-दल के अभिनंदन का।

२

नाच उठी स्वागत को जल के तल पर तरल तरंग नटी।
तोय-ताल मिल तूर्य-तान में जलतरंग सुस्वन प्रकटी।
'क्वण,क्वण' किंकिणि-नाद मृदुल रव रथ-रुनझुन का स्वर देता।
सुर ललनाओं का मृदु गायन हृदयों को था हर लेता।

३

रागमयी संध्या में सेना हुलस रही अनुरागमयी,
आह्लादित हो देख रही थीं सीता उसको त्यागमयी।
प्रभु के प्यारे कीशवृंद को भालु-यूथ को देख सुखी,
करुणा के कण बरसाती थी उल्लसिता हो मंजुमुखी।

४

कोटि कोटि नयनों को उन्नत करके कटक बढ़ा आगे,
माँ के मंजुल दर्शन को सब सैन्य-नियम निर्भय त्यागे।
जी भर झांकी पाने की थी सब के मन में चाह रही,
मार्ग चतुर्दिक् घिरा, न रथ को बढ़ने की भी राह रही।

५

उन्हें निवारण करने को कुछ रथ-रक्षक आये आगे,
पर पीछे न हटाते थे पग मातृपदों के अनुरागे।
प्रभु ने कहा, "सखे ! सीता को पद के बल ही आने दो,
कपि-दल को उद्विग्न दृगों की दर्शन-प्यास बुझाने दो।"

६

रथ से उतर चली वैदेही अवनी माँ की गोद खिली,
दोनों ओर अनी लतिका-सी पाकर परम प्रमोद हिली।
उसके नयन-सरोजों से जो सुरभित सुमन-समूह झड़ा,
उसे अचंभित हो लखता ही रहा सुरों का व्यूह खड़ा।

७

भूला कतिपय पल तक तो वह निज पुष्पों का बरसाना,
फिर खिल उठा व्योम ले अपना ज्योतिष्मंडल का बाना।
वैदेही ने नव मयंक से मंडित व्योम-छटा देखी,
संमुख राघवेन्दु से रंजित वानर-भालु-घटा देखी

८

शीतल हुआ हृदय-तल प्रभु के सस्मित आनन की छवि से,
चारु चकोरी-सी उत्कंठित चली गौरवित गति नव से।
राघव ने आगे बढ़ आसन देकर सादर सीता को,
किया समाश्वासित मृदु स्वर से तपश्चारिणी प्रीता को।

९

सिंधु-तीर आनंद-सिंधु का एक अलौकिक ज्वार चढ़ा,
पर उसके पीछे कुछ क्षण में देखा एक उतार बढ़ा।
बोले रघुवर, "प्रिये! पुण्यव्रत जैसा है तुमने साधा,
साध सकेगा जीवन में भी क्या कोई उसका आधा?

१०

लोकदृष्टि में नहीं तपस्या किंतु परीक्षा दे पाई,
"क्या प्रत्यक्ष अग्नि-पथ पर चल खरी समीक्षा दे पाई?"
मुकुलित वदन हुआ सीता का सुनकर रघुपति की वाणी,
प्रस्तुत ही पावक-प्रवेश को बोली तब वह कल्याणी।

११

"अग्नि-परीक्षा बिना नाथ! यह दासी भी न तोष पाती,
उठे बिना जन की आँखों में क्या प्रभु-कीर्ति-कोष पाती?"
फिर लक्ष्मण को बुला कहा, "हे लाल! तुम्हारे ही कर से,
रक्षण पाती रही सदा मैं संकट-संहारी शर से।

१२

अब भी ला कर काष्ठ जगा दो अग्नि, प्रवेश उसी में कर,
दूँ प्रमाण आचार-शुद्धि का प्रभु-पद-पद्म हृदय में धर।"
लक्ष्मण की आँखों के आगे शतधा क्षणदा-सी चमकी,
पर कर्त्तव्य-कठोर-भावना जाग धैर्यधर की दमकी।

१३

प्रभु का भी संकेत प्राप्त कर नत शिर लक्ष्मण वीर चला,
विस्मित दानवियों का भी तब बह नेत्रों से नीर चला।
सभी सन्न हो बैठे अपलक प्रभु की मुद्रा देख थके,
करुणाकर की अकरुणता का मर्म न कुछ भी लेख सके।

१४

पावक था प्रज्ज्वलित उसी में थी विदेहजा राज रही,
वह्नि-विभा से भी बढ़कर ही आनन-आभा भ्राज रही।
शिखा हुताशन की फैली थी किंवा लोहित कमल-कली,
बनी सिंधुजा का आसन थी, स्निग्ध, सुकोमल, खिली भली।

१५

राघव की कमनीय कामना कुंदन बन बाहर आई,
विश्व-कांति की नव आकृति ही थी विरंचि ने प्रकटाई।
रजनी ने अंबर के मोती झिलमिल झिलमिल झलकाये,
चमत्कारिणी प्रीति-नीति ने पुनः पुनः तन पुलकाये।

१६

अर्धनिशा, कपिपति-निदेश से शिविर समस्त प्रशांत हुआ,
नीरव वातावरण, रजच्छवि, शोभन रजनीकांत हुआ।
शयनकक्ष में जा राघव ने निद्रा का आनंद लिया,
पर लक्ष्मण से कहने को कुछ था सीता का व्यग्र हिया।

१७

बुला समीप, मृदुल वाणी से पश्चात्ताप प्रकट करती,
बोली वचन विदेहनंदिनी गूढ़ व्यथा से उर भरती।
"तात! कठोर वचन वे मेरे तुम्हें समर में सुला चुके,
जाने हिलकी बँधा बँधा वे कितना मुझको रुला चुके।

१८

अब भी मन का शूल न मिटता क्या तुम उन्हें भुला पाये?
सच पूछो तो संकट मेरी उसी भूल से सब आये।
आर्यपुत्र को, देवर तुमको मैंने ही रण में डाला,
वही वेदना उर में विष का बुझा हूलती है भाला।

१९

हाँ, वह शक्ति शक्रजेता की लगी कहाँ में देखूं तो,
अपने उस अक्षम्य दोष की दारुणता को लेखूं तो।"
वसन हटाकर लगी निरखने तब वह लक्ष्मण की छाती,
आँसू बहा बहाकर व्रण-थल अपने कर से सहलाती।

२०

लक्ष्मण भी रो पड़े, लगे फिर रुद्धकंठ से कहने यों—
"भाभी ! यह प्रसंग निष्कारण छेड़ दिया ही तुमने क्यों ?
शक्ति तुम्हारी तनु-त्राण थी, शक्ति कहाँ सुरघाती की,
जो कर पाती निज प्रहार से हरण शक्ति इस छाती की ?

२१

सोचो तो भाभी ! दुर्घट वह घटना यदि न घटी होती,
तो क्या रघुकुलमणि के यश से भूषित विश्व-पटी होती ?
तुम्हीं निमित्त बनी, संकट में एकाकी व्रत साध सकीं,
प्रभु के परम प्रयोजन को तो भाभी ही आराध सकीं।

२२

लज्जा मुझको एक कि भाभी ! उल्लंघन उस रेखा का
कैसे वह दुर्वृत्त कर सका वीर-व्रत की लेखा का ?
क्या साधना न इस किंकर की उसके तप-संमुख ठहरी ?
प्रभु-पद-पद्म-प्रेम में मेरी चूक हुई कोई गहरी ?"

२३

"लाल सुलक्षण ! सेवा है अनवद्य तुम्हारी गेय यहाँ,
पावेंगे इससे भी उत्तम युग युग साधक ध्येय कहाँ ?
उस रेखा का उल्लंघन तो कैसे कोई कर पाता ?
पर रूठा था मेरी मति पर पर्दा डालि स्वयं धाता ?

२४

दुष्ट यती के कपट-कोप को सच्चा समझ निकल आई,
मैं ही ले भिक्षान्न, अहित-शंका से स्वयं विकल आई।
तात ! तुम्हारी एक न मानी बार बार लज्जित हूँ मैं,
एक नहीं दो दो दोषों की कीचड़ में मज्जित हूँ मैं।"

२५

"भाभी ! अब मेरा मन हलका हुआ तुम्हारा दोष नहीं,
भावी को तुमसे बढ़कर था मिला शक्ति का कोष नहीं।
इसीलिए मानों विपत्ति का पर्वत था तुम पर ढाया,
उसी कष्ट ने राघव-यश की धवल ध्वजा को लहराया।"

२६

"लहराया किसके विक्रम ने, इसको रण-पंडित जानें,
किंतु, दंड पर ध्वजा ठहरती सब ही मति-मंडित मानें।
रघुपति-कीर्ति-पताका का जो सुदृढ़ दण्ड जग ने देखा,
वह सौमित्र-सुयश ही तो है, है दुर्लभ जिसका लेखा।"

२७

"अच्छा, सुयश-गान का कब से पात्र हुआ मैं हे भाभी !
चपल, सदैव खेल में रत मैं, दृढ़मति कभी हुआ क्या भी ?
मिल जाता अवसर-प्रसाद जो उसको था बस पा लेता,
यश, अपयश कुछ नहीं जानता, केवल प्रभु-पद [illegible] लेता।"

२८

"दूर जयाजय से रहना ही भारी विजय खिलाड़ी है,
जय करके भी विज्ञ जगत को, बनता सदा अनाड़ी है।
मानी थी न तुम्हारी इससे तुम मेरी न सुनोगे क्या ?
प्रायश्चित्त-हेतु तुम मुझको औषध कुछ न गुनोगे क्या ?"

२९

फिर शिर पर रख हाथ स्नेह का झरना मानों झरती;
शयन-शिविर में गई जनकजा हृदय हर्ष से भरती।
रजनी ने अंचल फैलाकर सबको गोद सुलाया,
रण का श्रम-संभूत कटक ने कष्ट समस्त भुलाया।

३०

अरुणचूड़-ध्वनि सुन सचेत हो लक्ष्मण धन्वा धारे,
देख रहे थे रवि की रुचि से हत प्रभात के तारे।
जगी जनकजा, जगे जगतपति, उगे भानु प्राची में;
बजे सुमंगल-वाद्य वाहिनी विपुल राग-राँची में।

३१

प्रभु-समीप जाकर सकुचाते बोले वचन विभीषण,
"राजपुरी ही रही अभागी बिना छुए पद-रज-कण !"
प्रभु प्रसन्न हो बोले, "तुमको विदित सखा सब बातें,
बिना भरत के काट रहा हूँ कैसे मैं दिन-रातें।

३२

दिवस एक ही और अवधि में, यदि न अयोध्या जाऊँ,
तो फिर उस सुकुमार बंधु को क्या मैं जीवित पाऊँ ?
क्षण-क्षण बीत रहा है भारी बस पुष्पक ले आओ,
पुर-प्रवेश मेरा वर्जित गिन, भेद न मन में लाओ।"

३३

मौन विभीषण पवनपुत्र की ओर निहार हुआ नत,
बोले राघव, "क्यों मारुत-सुत ! क्या कोई नूतन मत ?"
"पद-पद्मों की पावन रज की नाथ ! प्रबल अभिलाषा,
लगी हुई है अभी उसी पर लंकेश्वर की आशा।

३४

इच्छा यही किसी विध नगरी का अंचल हो पावन,
रहे वही क्यों मंदभागिनी वंचित बनी अभावन ?
और नहीं तो वन अशोक में ही श्री चरण पधारें,
पुर से दूर तपोभू माँ की जाकर नाथ ! निहारें।"

३५

"दूर रहे अथवा समीप, वह अंग राजधानी का,
क्या विश्राम-धाम हो सकता वनवासी ध्यानी का ?
तर्क-तुला पर तोल तोड़ना व्रत को कभी न शोभन,
नीचे खींच चला करते हैं बहुधा तर्क-प्रलोभन।

३६

तीर्थ बन चुका है वन केवल वैदेही के तप से,
उसके व्यापक अतामभाव से, उसके मंगल-जप से,
स्वर्णपुरी में तप, गंगा की धार बहा दी न्यारी,
मेरी पद-निर्गत गंगा से क्या कम पावनकारी ?

३७

जो अशोकमय भी सशोक था उसका शोक मिटाया,
वैदेही ने ही अशोक वन सचमुच उसे बनाया।
मन का मैल मिटा देने से ही तन निर्मल होता,
गहराई से ही आता है निर्मल जल का सोता।

३८

सखा विभीषण को फिर होना शोक निरा विभ्रम है,
हुआ पुरी के परिष्कार का पहले ही उपक्रम है।
मल तो उसका उसी समय में भस्मीभूत हुआ था,
उसका गात्र कृपा पावक की पा जब पूत हुआ था।

३९

देख चुके तुम वहाँ कुटी पर भरत नित्य-नेमी को,
अवधपुरी में संत हृदय को, बंधु परम प्रेमी को।
यहाँ राजलीला में रत मैं, वह सच्चा वनवासी,
त्याग पिता के दिये राज को बैठा बन संन्यासी।

४०

मेरे प्राण वहीं अटके हैं जहाँ भरत की रट है,
बना विरागी जहाँ कर रहा वह साधना विकट है।"
होकर हर्षोत्फुल्ल विभीषण, हनूमान तन-पुलके,
थे प्रसन्न मन निकल गई सब उदासीनता धुल के।

४१

विनत विभीषण चला स्वयं तब पुष्पक ले आने को,
राघव भी सन्नद्ध हुए निज जन्म-भूमि जाने को।
सभी शूर, सेनप बुलवाये, बोले रघुकुल-नंदन,
"बंधु ! तुम्हारा किस प्रकार मैं, करूँ उचित अभिनंदन ?

४२

रावण का वध हुआ तुम्हारे ही बल से, कौशल से,
लोहा लिया तुम्हींने डटकर रिपु के बल से, छल से।
उऋण नहीं हो सकता तुमसे, अब निज-निज घर जाओ,
निर्भय रहो, जियो सुख से, मत शंका मन में लाओ।

४३

करते रहना याद मुझे, गिन निज जीवन का साथी,
लंका जीत न लगे झूमने दुर्जय मन का हाथी।
विजयी होकर विनयी बनना मानव का भूषण है,
सत्ता पाकर दर्प दिखाना दुर्जनता, दूषण है।"

४४

बिना निमेष निहार रहे सब प्रभु-मुख व्याकुल मन से,
विदा-वचन सुन प्राण सभी के निकल रहे थे तन से।
बोले, "क्षुद्र जीव हम प्रभु का हित करना क्या जानें?
बसें न नाथ हृदय में तो कुछ कर मरना क्या जानें?"

४५

'घड़ घड़' रव पुष्पक का सुन सब आये दौड़ किनारे,
पर संकेत गमन का पाकर चले हृदय में हारे।
किंतु सखा सुग्रीव, विभीषण, अंगद आदि न डोले,
रहे निरखते आँखें भरकर मुख से वचन न बोले।

४६

स्नेह विलोक उन्हें पुष्पक पर चढ़ा लिया प्रभुवर ने,
आसन लिया मनोज्ञ मंच पर सीता ने, रघुवर ने।
अवगाहन आकाश-मार्ग का करता पुष्पक धाया,
रत्नाकर की कल्लोलों का दृश्य दृष्टि में आया।

४७

सेतु-विभक्त सिंधु को सीता चकित निहार रही थी,
एक अनंत लोक में उसकी दृष्टि विहार रही थी।
मुग्ध-विदेहनंदिनी को लख प्रभु का मन भी भूला,
कहने लगे, "प्रिये! देता है अद्भुत सुख यह झूला।

४८

देखो मलय-तीर से फैला मेरा सेतु प्रिये ! यह,
मर्कट-कटक-महान-कीर्ति का विस्तृत हेतु प्रिये ! यह।
फेनिल अंबुराशि बिखराता दोनों ओर फबीली,
छायापथ छिटकाता जैसे तारक-राशि छबीली।

४९

जलजीवों की भीड़ उठा मुख, है नभयान निरखती,
कमठ-पीठ भी जंतु-भार से तरणी-तुल्य थिरकती।
पीछे अवलोको वानर-दल उसको यान बनाता,
कुछ पुल से, कुछ प्राणि-पीठ से चला उछलता आता।

५०

देखो वह घनघटा व्योम से उतरी पीने पानी,
वायुवेग ने घुमा बना दी उसकी एक मथानी।
फिर से मंथन-सा पयोधि का होने लगा विलक्षण,
नीर-सरोवर भर झागों से फेंक रहा उज्ज्वल कण।

५१

वेलानिल के मधुर पान को उरगमालिका बढ़ती,
लोल लहरियों में मिल तट पर जाती मानों चढ़ती।
एकाकार लहरते जाते तन, द्युति से मणियों की,
होती है पहचान तरंगों पर तरते फणियों की।"

५२

"किस भू से हैं फूट वहाँ वे निकल रहे फव्वारे ?
जल के इन आश्चर्यों पर हैं लुब्ध विलोचन-तारे।
वहाँ फेन उठते हैं मानों चमरी धेनु विचरती,"
बोली सीता, "क्या सागर-तल नाथ ! दूसरी धरती ?"

५३

"तरुण तिमिंगल जीव-सहित पी पानी मुख को भींचे,
भाल-रंध्र से छोड़ रहे जल जलजीवों को खींचे।
वही उत्स उत्पन्न कर रहे, मानों नीरधि-तल से,
फूट रहा कोई सोता हो जल के वेग प्रबल से।

५४

वे मातंगनक्र देते हैं छाल नीर में ऐसी,
क्षण भर को शोभित कपोल पर होती चँवरी-जैसी।
जाता है मन जहाँ, वहीं है यान हमें ले जाता,
वेगवान भी महा, कला के चक्कर चारु लगाता।

५५

देखो चला जा रहा है उड़ अमरलोक में इस क्षण;
लो, यह मेघ-मार्ग से निकला, वह खगलोक विलक्षण।
नीचे चला, अरे ! अर्णव का पोत बना मनहारी,
विविध पथों पर फिर नर्तन-सा करता विस्मयकारी।

५६

देख उड़ानों की अद्भुतता पक्षी पंख फुलाते,
पीछे रह जाते बहुतेरी उड़ उड़ होड़ लगाते।
चील-झपट से गिरा, लगाता डुबकी मछली-जैसी,
मीन देखती रही, चील भी चौंकी गति से वैसी

५७

अहा ! रेणुका के तट पर वे सीप पड़ीं मुख-खोले,
रजःकणों को कांत कर रहे हैं मोती अनमोले।
विलस रही तरुराजी देखो दूर श्याम रेखा-सी,
तालीवन, तमाल की छवि है अति ललाम लेखा-सी।

५८

सिकता के कूलों पर कैसे पूंगीफल हैं फूले,
फल-भारों से नम्र निरंतर मलयानिल से झूले।
नील गगन नीले नीरधि से आलिंगन-सा करता,
क्षितिज-छोर पर पीछे देखो कैसा मन को हरता!

५९

इधर उत्पतित होती मानो वसुंधरा है आती,
सीते ! स्वागत को उत्कंठित रोम रोम पुलकाती।
लो, दंडक वन में आ पहुँचे, पंचवटी प्रिय देखो,
निर्भय उटजों की रचना में मुनिगण सक्रिय देखो।"

६०

हर्षित हुई, किंतु युगपत् ही होती हुई सभीता,
"माया नया न खेल खिलावे !" बोली प्रभु से सीता।
"प्रिये ! अगस्त्य आदि ऋषियों के दर्शन चलो करेंगे,
संस्मरणों से पर्णकुटी के भावन भाव भरेंगे।

६१

माया के खेलों ही में तो खिलती है नर-लीला,
है जीवन का मूल्य परखता माया-मार्ग कँटीला।"
कहते ही, विमान धरती पर उतरा ऋषि मुनि आये,
विकसितवदन विलोक दृगों में हर्ष-नीर भर लाये।

६२

जा जाकर आश्रम में वेदी पुष्प-पुंजिता देखीं,
संध्या-समय श्रुति-ध्वनि-पूरित मंत्र-गुंजिता देखीं।
विदा वहाँ से ली, प्रभात की राग-रंजिता वेला,
चित्रकूट के शृंगों पर थी करती अद्भुत खेला।

६३

नग के नीचे कंठहार-सी बनी रम्य अवनी की,
मंदाकिनी-धार तन्वी-सी थी लुभावनी जी की।
मन ही मन प्रणाम कर नग को बढ़े, निकट सँगम के
पहुँचे, परम प्रसन्न नीर की छवि के हृदयंगम के।

६४

तरल त्रिवेणी में गंगा से यमुना का आलिंगन,
सितपद्मों की हारावलि में था इंदीवर-गुंफन।
मोती की लड़ियों में किंवा नीलम की छवि निखरी,
अथवा नभोनीलिमा में थी शरच्चंद्रिका बिखरी।

६५

पुण्यक्षेत्र में उतर, स्नात हो, थे सब मन में फूले,
भरत कुशल के हेतु राम थे फिरते भूले भूले।
पवनपुत्र को भेज अयोध्या, बोले जटा दिखाकर,
"सखा सुकंठ! निषाद-ग्राम वह सुंदरता का आकर।

६६

यहीं जटा धारण कर हमने केवट से कर विनती,
की थी गंगा पार, प्रीति की थी उसकी क्या गिनती?"
इतने ही में देखा दौड़ा स्वयं चला वह आता,
भू से उठा, भुजा-भर उससे भेंटे रघुकुलत्राता।

६७

फिर सीता के चरणों में गिर गद्गद्वाणी बोला,
"माँ! मेरा भर गया आज, बस जीवनभर को झोला।"
"नहीं, अभी उतराई तुझको तात! कहाँ दे पाई?
जाते समय हठी! तूने तब ली थी एक न पाई।"

६८

"सिंहासन से ही अब लूँगा दान महारानी से,
अब तक पला अंब ! जगपावन गंगा के पानी से।"
सुनकर गिरा राम मुसकाये, सखा सभी मुसकाये,
अवधपुरी से हनूमान तब कुशल-वृत्त ले आये।

६९

पुष्पक उठा, निषाद साथ था चरणों में श्रीपति के।
मन ही मन गुण गान कर रहे थे सब उसकी मति के।
"देखो सखा, अयोध्या है यह, जन्मभूमि मम पावन,
यही पुरी पाई है मैंने ऐसी भूतल-भावन।

७०

सरयू तरल तरंगों से है अपने हाथ बढ़ाती,
मानों पवन पथी के द्वारा स्वागत-अर्घ्य चढ़ाती।
प्रजा सिमट तट पर छायी है कर में लिये ध्वजाएँ,
विप्रवृंद, मुनियों के दल हैं उन्मुख उठा भुजाएँ।"

७१

पुष्पक रुका, अवध की भू पर उतरा धीरे-धीरे,
प्रभु-दर्शन से तृप्त कराता सबको तीरे-तीरे।
साधु भरत पर दृष्टि जा पड़ी सीता की तब सहसा,
जटिल वेष में खड़ा जहाँ वह प्रभा-पुंज-विग्रह-सा।

७२

प्रेम-अधीर राम उठ धाये, धनु, निषंग, पट छूटे,
गले लगाये जटिल बंधु को खड़े, स्नेह-सुख-लूटे।
सीता तपोमूर्ति की छवि पर तन, मन वार रही थी,
भक्त-रत्न, रघुकुल-प्रदीप की ज्योति निहार रही थी।

७३

बरस रहा अनुराग, खिला था सरयू तीर तरंगी,
लोचन ललचा रही पुरी थी उत्सुक, उन्नत-शृंगी!
राम भरत को संग ला रहे, पीछे लक्ष्मण, सीता,
तरुण तपस्वी चार रचाते युग युग जीवी गीता।

शब्द-दीपिका

पहला सर्ग

छंद

१ वन्यश्री—वन की शोभा।
२ गहन—दुर्गम; गहरा।
गेह—घर।
सातंका—आतंकित; डरी हुई।
३ कोटी—आगे निकली हुई चट्टानी भूमि।
कुसुमाकर—वसंत।
४ पल्लविनी—पत्तोंवाली।
ऊर्मियाँ—लहरें।
५ हिमकिरीटनी—वर्फ के मुकुट-वाली।
६ दोला—झूला; पलना।
७ सरसी—ताल।
इंदीवर—नील कमल।
८ शाद्वल—घास के मैदान।
निकाई—सुंदरता।
सौध—राजभवन।
वीथी—गली।
मयंक—चन्द्रमा।
११ केश-कलाप—बालों का समूह; जूड़ा।
१३ पीनांगी—पुष्ट अंगोंवाली।
१४ कामरूप—इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली।
१६ धूमिल—धुएँ के रंग की काली; धुंधली।
१७ नृशंस—क्रूर; निष्ठुर।
१८ प्राचीर—परकोटा; घेरा।
१९ वंचन—ठगी; धोखा।
२१ जाया—पत्नी।
२३ व्रीड़ा—अपने किये कर्म पर लज्जा।
२४ पोसा—पोषण किया; पाला।
२५ पोत—जहाज; नाव।
२८ वज्री—इन्द्र।
२९ प्रभंजन—तीव्र वायु, आँधी।
३० दृगंबु—आँसू; आँखों का पानी।
३२ मखशाला—यज्ञशाला।
पिनाक—शिव का धनुष।
विषण्णवदन—दुखी; रंजीदा; शोकित।
३३ लाघव—फुर्ती; सफाई।
ठवनि—धज; अदा; शान।
३५ स्नेहार्द्र—प्रेम से भीगी हुई; प्रेममयी।
३६ विद्युद्युति—बिजली की-सी चमक।
३७ दावा—वन की आग।
३९ पैठी—धँसी।

दूसरा सर्ग

छंद

३ आलोड़न—इधर-उधर फैलना

वा लुढ़कना।
रसना—जीभ।
५ स्यंदन—रथ।
शोध—पता; खोज।
६ चतुर्मास—वर्षा के चार महीने।
७ पावस—वर्षाऋतु।
८ शल्य—एक अस्त्र; चीड़-फाड़ का नुकीला तीक्ष्ण अस्त्र।
१० झंझा—चारों ओर से चलनेवाला चक्करदार वायु।
निविड़—घना।
बोरे—डुबाये हुए।
ओघ—समूह।
उदक—जल।
१२ निर्झरिणी—नदी।
१३ निर्निमेष—टकटकी बाँधे; अपलक।
१५ व्यसन—शौक; गहरी आदत।
१६ शशांक—चंद्रमा; शशि।
१७ कोकी—चकवी।
१८ अपंकिल—विना कीचड़ की।
२१ शरण्य—शरण के स्थान।

तीसरा सर्ग

छंद

१ रसाल—आम्र।
२ सस्मित—मुसकान सहित।
३ स्रोतस्वती—नदी।
मदिर—[illegible]तवाली।
४ सलिलगा—नदी।
५ कंचनवलित—सोने से मढ़ी हुई।
७ घनीभूत—गहरी; सघन।
८ रीता—खाली।
१० तुंग तरंगावलित—ऊँची तरंगों से मिला हुआ।
परिणीता—विवाहिता।
११ दग्धा—जली हुई।
१२ कोपानल—क्रोध की आग।
१३ मग—मार्ग।
१४ वरानना—सुंदर मुखवाली।
१६ छद्म—बनावटी; कृत्रिम।
१७ अचला-तनया—पृथ्वी की पुत्री।
मृगया—शिकार।
१९ [illegible]यिक—शारीरिक।
निष्ठा—विश्वास; स्थिति।
२२ अहेर-कुरंगी—शिकार की हिरनी।
२३ ऋजुता—सरलता।
कृश—दुर्बल।
२४ आरक्त—लाल लाल।
त्रिपुटी—वह कोना जहाँ नाक भौंहों से मिलती है।
२६ श्रुति-सुखदायक—कानों को सुख देनेवाली।
२७ अनाचार—अनुचित व्यवहार।
२८ प्रमदा—युवती स्त्री।
प्रगल्भ—उद्धत; उद्दण्ड।
२९ निशीथ—आधीरात।
३० ताँता—सिलसिला; निरंतर कार्य करना।
३१ शार्दूल-शावक—सिंह का बच्चा।
३२ उदासी—संन्यासी।
३३ आर्त्ति—दुःख; त्रास।
३७ कूटकला—कुटिल नीति।
मनौती—विनय; मनाना।
३८ अपकारी—बुरा करनेवाला।

कपटाचारी——छली।
४१ संमोहन——मोहक शक्ति।
दोहन——दुहना; निचोड़ना।
४४ संसृति——सृष्टि; जगत्।
४५ चंद्र चतुर्थी का——भाद्रपद की चतुर्थी के चंद्रमा को लोग इसलिए नहीं देखते कि उसके दर्शन से दोष लगा है। इसी दिन कृष्ण को स्यमंतक मणि की चोरी का दोष लगा था।

चौथा सर्ग

छंद

१ पाँवड़े——पायदान; पैरों के नीचे बिछे हुए वस्त्र।
२ विहंगम——पक्षी।
४ कुशासनस्था——कुशाओं के आसन पर बैठी हुई।
मौनाराधन——चुपचाप पूजन करना।
खनि——खान।
६ हेमपुरी——सोने की नगरी; लंका।
हेरो——देखो।
९ लोकोत्तर——लोक से परे; अलौकिक।
अनुगत——पीछे पीछे चलने-वाला; अनुगामी।
१० ज्योतिरिंगण——जुगनू, खद्योत
विरह-तमिस्रा——विरह की रात
११ अधमाई——नीचता।
१२ कवल——ग्रास; मुँह का गस्सा।
१३ शित कृपाण——तीक्ष्ण तलवार।
१५ रक्षोकुल-यश-सौरभ——राक्षस वंश के यश की गंध।
अपलोक——अपयश; निंदा।
अकरुण——क्रूर; निर्दय।
हनन——वध।
१६ घालो——नष्ट करो।
१८ प्रत्यंचा——डोरी।
अनी——नोंक।
१९ संज्ञाशून्य——बेहोश; अचेत।
२० हेटी——मंद; छोटी।
२३ धरित्री——पृथ्वी।
२४ निमित्त——कारण।
दुहिता——पुत्री।
२७ कालुष्य——कालिमा; कलुषता; कलंक।
सहाई——सहायता करनेवाली।
२९ अभिराम——सुंदर; रुचिकर।
३२ कारा——कैदखाना; वंदीगृह; जेल।
वेला——समय।
खेला——खेल; क्रीड़ा।
३४ नियति नटी——प्रारब्ध की नटी
अंतर्द्वंद्व——मन के भीतर का संघर्ष।

पाँचवाँ सर्ग

छंद

१ मदिरा——सुरा; शराब।
पुलिन——नदी का बालू का किनारा।
किरीट——मुकुट।
पादप——वृक्ष।
२ नीड़——घोंसला।
५ तटिनी——नदी।

निसर्ग—प्रकृति।
६ कोष—फूल का मध्य भाग।
७ शाखामृग-छौना—बंदर का छोटा बच्चा।
लोल—सुन्दर; चंचल।
८ कौतुकघर—अजायबघर; अद्‌भुत वस्तुओं का संग्रहालय।
१० मर्कट-पोत—बंदर का बच्चा।
१३ वलीमुख—बंदर।
क्रोड़—गोद।
१४ कलूटी—काले रंग की राक्षसी।
१५ दृगंचल—पलक।
१६ बिचकाती—टेढ़ा करती।
१७ कंदुक—गेंद।
१८ मूंदा—बंद कर लिया; ढक लिया।
टोहती—खोजती; ढूंढ़ती।
२१ जागरूकता—जग जाना; जागृति; सचेतनता।
अधर—आकाश।
२२ उद्वेलन—क्षोभ; खलबली।
२३ झूरे—शिथिल हुए; ढीले पड़ गये।
२४ विपन्न—दुःखी, विपत्ति में पड़ी हुई।
२६ आहुति—हवन का द्रव्य जो यज्ञ में डाला जाता है।
२९ शीतकर—चंद्रमा।
दुर्वह—असह्य; जो वहन न की जा सके।
३० अवसन्न—विषादपूर्ण; दुखी।
३१ आकुल—व्याकुल; व्यथित; दुःखी।
अरुणारे—लाल लाल।
उन्मन—अनमना; उदास।
संवेदन—व्यथा; गहरी वेदना।
३२ समीक्षा—भले प्रकार निरीक्षण; समालोचन।
३४ मंददृष्टि—जिसकी दृष्टि धीमी पड़ जाय; धुंधला देखनेवाले।
वानर—बंदर के बच्चे।
इंद्रजाल—धोखा; बाजीगरी।
३५ किंकर—दास; सेवक।
३७ अकूत—जिसका अनुमान न हो सके; जो कूता न जाके।
३९ प्रभु-नामांकित—जिसपर राम का नाम खुदा हुआ था।
४० मिताई—मित्रता।
४३ कृपाकोर—दयादृष्टि।
४४ उन्मन—उदास; अनमना।
४५ निवसती—निवास करती है; रहती है।
४६ प्रभु-प्रयाण—प्रभु का कूच वा प्रस्थान।
४८ भूधराकार—पर्वत की-सी आकृतिवाले।
५० श्रीगणेश—आरम्भ।
५२ निराहार—विना भोजन किये।
रक्ष-रक्षक—रखवाली करनेवाले राक्षस।
५३ अवरोधक—रोकनेवाले।
५४ भीमाकृति—भयंकर रूपवाला; लंबा-चौड़ा।
५६ अक्ष-निधन—अक्षकुमार की मृत्यु।
५७ आयुध—हथियार।

५८ घर्षण कर—मसल कर; रगड़ कर।
५९ समूचे—संपूर्ण; पूरे।
६० संगर—समर; युद्ध।
६१ रावणि—रावण का पुत्र (मेघनाद)।
यूथ—समूह।
६३ हेरा—देखा।
६४ ठठोली—हँसी; मजाक।
६५ पहेली—समस्या; उलझन।

छठा सर्ग

छंद

१ भ्रू-विलास—भौंहों का घिरना; टेढ़ी भौंहें होना।
२ कनकासन—सोने का सिंहासन।
३ वर्बर—असभ्य।
५ गतिमान—चलने में समर्थ।
भ्रष्टमार्ग—जो मार्ग भूल गया हो; मर्यादा से गिरा हुआ।
७ पिनाक-भंजन—शिव के धनुष को तोड़नेवाले।
गहोगे—ग्रहण करोगे।
९ चतुर्मार्ग—चौराहा; चतुष्पथ।
अवध्य—जिसे मारना उचित न हो।
१२ सौध—प्रासाद; महल।
वह्नि-शिखा—आग की लौ।
कलधौत—सोना; चाँदी।
१३ अंग उनंचास—वायु के सात मंडल हैं; प्रत्येक मंडल में सात-सात प्रकार का पवन चलता है।
१४ लाघवमयी—फुर्तीली; तेजी से चलनेवाली।
१५ कतराती थीं—बच-बच कर इधर-उधर से निकलती थीं।
१७ पीतपय—पीले पानीवाली।
कल्लोलिनी—नदी।
होड़ाहोड़ी—स्पर्द्धा करती हुई; होड़ लगाती हुई।
१९ लीले—निगल लिये; खा लिये।
२० गगरी—छोटा घड़ा; गागर।
२१ विपुलमुखी—बहुत-से मुँह-वाला।
२२ अवशा—बेबस, असहाय।
बाधो—रोको।
२३ सिंधु-स्नात—समुद्र में नहाया हुआ।
२४ दहन-वृत्त—जलाने का हाल।
हृत्कंज—हृदय रूपी कमल।
अभियान—आक्रमण।
खरारी—दुष्टों के शत्रु राम।
२८ आचरनी—व्यवहार।
२९ भीमनाद—भयंकर ध्वनि।
तर्जन—तड़कना।
दृढ़ासनस्था—आसन पर जमी हुई।
३० गरुड़-गमन—गरुड़ के समान तीव्र गति से जाना।

सातवाँ सर्ग

छंद

१ पौढ़ी—लेटी हुई।
२ डींग हाँकते—लंबी-चौड़ी बातें करते; दंभ प्रकट करते।

पत—प्रतिष्ठा; लज्जा।
३ कौंध रही हैं—क्षण-क्षण पर चमक रही हैं।
४ नैसर्गिक—प्राकृतिक।
रुद्र रूप—भयंकर रूप; शिव का-सा विकट रूप।
६ मय—एक राक्षस था, जो बड़ा ही कुशल शिल्पी था। लंका की निर्माण-योजना उसीने की थी; मंदोदरी का पिता।
प्रयोग-प्रणाली—वैज्ञानिक प्रयोगों की रीति।
७ उदार कल्पना—उच्च कोटि की कल्पना।
८ दिग्विजयी—सब दिशाओं को जीतनेवाला।
१० लोक-लयंकर—लोक का नाश करने वाला।
निर्वसन—नंगा; वस्त्रहीन।
खरारूढ़—गधे पर सवार।
११ तमीचर—राक्षस।
१२ अहंमन्य—अपने आपको बड़ा समझनेवाला।
१५ कर्बुरेंद्र—राक्षसों का राजा।
तरला—दयामयी; द्रवित होनेवाली।
१७ नंदन—देवताओं का वन।
१८ निहित—स्थापित।
स्वार्थ-समुद्भव—स्वार्थ से उत्पन्न।
कल्पित—मनमाने; झूठे।
२० नैश—निशा का; रात्रि का।
रजनीगंधा—रातरानी का फूल।
गोरखधंधा—पचड़ा; उलझन का कार्य।
२२ देवराज—इंद्र।
इतिकर्त्ता—समाप्त करनेवाला।
शोणित—रक्त, लोहू।
२३ अरण्य—वन; ऊसर।
२४ भस्मीभूत—जलाया हुआ; राख।
दुराग्रह—झूठा हठ।
२५ हेला—उपेक्षा; तिरस्कार।
प्रशस्त—विस्तृत: प्रशंसनीय।
खलोत्पाटिनी—दुष्टों को उखाड़ फेंकनेवाली।
२६ अहर्निश—रात दिन।
२७ पावकदग्धा—आग से जली हुई।
पुरटपुरी—सोने की नगरी; लंका।
२९ अखाड़े—आमोद-प्रमोद के क्रीड़ा-स्थल; नाच-रंग के समाज।
३१ इतिकर्तव्यमना—जो यह समझ ले कि उसे अब कुछ नहीं करना, मानो वह सबकुछ कर चुका।
३२ समुत्कर्षिता—अच्छी तरह उन्नति की ओर जानेवाली।
दिवारात्रि—दिनरात।
३३ पराकाष्ठा—चरम सीमा; अंतिम सीमा।
३४ योजन—चार कोस का एक योजन होता है।
३५ पुरारि—महादेव; शिव।

३८ क्षितिजा—पृथ्वी की पुत्री; सीता।
३९ केलि—क्रीड़ा; खेल।
४० रश्मिजाल—किरणों का जाल। सविता—सूर्य।
४२ रेणुकातट—बालू का किनारा।
४३ कोटि—सिरा।
४५ तारापथ—छायापथ; आकाश गंगा।
लंगूरी—पूंछवालों की; 'बंदरों-रीछों' की।
४६ तरंगिणी—नदी।
४८ कलाधर—चंद्रमा।
हिल्लोल—हिलोर।
४९ रस-बोरी—रस में डूबी हुई।
हुलसित—प्रसन्न; आनंदित।
५० अभिनव—बिल्कुल नया।
५१ सर्वात्मभाव—सबको अपने समान समझना।
कृपाण-ग्रही—तलवार पकड़नेवाला; शस्त्रधारी।
५२ पाप-भांड—पाप का घड़ा।

आठवाँ सर्ग

छंद

१ मोघ—व्यर्थ; निष्फल।
कपि-कुंजर—बंदरों में हाथी के समान।
विकृत—बिगड़ा हुआ; विकार युक्त।
२ बल-प्रतीक—बल का चिह्न।
३ धजीले—शोभावाले; शानदार।
४ शिखर—चोटी।
अहेर—शिकार।
५ दीर्घांग—बड़े-बड़े शरीर।
६ आक्रोश—कोसना; शाप देना।
७ रौद्र—भयंकर।
९ विचार-विलोड़न—विचारों का मंथन।
११ निदेश—आज्ञा।
१३ आहट—आवाज; ध्वनि।
१४ अरण्यिनी—जंगल की।
प्रदोष—संध्या की समाप्ति का समय।
दोषा—रात्रि।
१६ विक्षुब्धा—बहुत दुखी; व्याकुल।
मुग्धा—मूर्छिता।
१७ तरणी—नाव।
विद्रूप—विकट रूपवाले।
२० अभिव्यक्ति—प्रकट होना।
उद्ग्रीव—ऊपर को गर्दन उठाये हुए।
२३ मर्मांतक—प्राणों का अंत करनेवाला; आंतरिक दुःख देनेवाला।
भद्र-भावना—कल्याण की इच्छा।
२४ अश्रुतपूर्व—जो पहले न सुना गया हो।
धावन—आक्रमण; धावा।
प्लावन—बाढ़।
२५ विशिख-चक्र—बाणों का घेरा।
मर्त्यलोक—पृथ्वी।
अंतरिक्ष—आकाश।
२६ साम्मुख्य—सामना।
चंडांशु—प्रचंड किरणोंवाले।
रश्मिमाली—सूर्य।

श्रांत—थका हुआ।
सत्वर—वेगपूर्वक; तेजी से।
२७ मोहे—मूर्छित हुए।
सोहे—शोभित हुए।
२८ भास्कर—सूर्य।
३१ नीरवता—निस्तब्धता; शांति।
३२ त्रियामा—तीसरे पहर की।
ज्योतित—प्रकाशित।
स्वर्गत—आकाश में जाता हुआ।
३३ विक्षत—विशेष घायल।
३५ शोकसंकुला—शोकसे भरी हुई।
३६ रंगोन्मत्त—आमोद-प्रमोद में मतवाले।
३७ पायक—सेवक।
३८ आघात—चोट।
३९ अचल—पर्वत।
४१ सीकर—पानी के कण।
तूर्यनाद—तुरही की ध्वनि।
तुमुल-ध्वनि—हलचल की बड़ी ऊँची आवाज।
४४ गाज—विजली।
४५ विग्रह—लड़ाई; युद्ध।
४७ उपकरण—साधन।
४८ मर्माहत मुद्रा—आंतरिक चोट खाई हुई मुख की आकृति।

नवाँ सर्ग

छंद

१ मनस्विनी—वुद्धिमती।
काल-कूट—कालरूपी पर्वत।
दंष्ट्र-दरी—दाँतों की घाटी।
२ क्षणदा—विजली।
ज्वार—समुद्र की बहुत ऊँची उठती हुई लहरें जो चंद्रमा के आकर्षण से उठती हैं।
३ आकार—खान।
दिवाकर—सूर्य।
५ निंद्य—निंदा के योग्य; बुरा।
७ भृगुवर—परशुराम।
८ हेय वृत्ति—नीच वृत्ति।
९ निर्वासन—देशनिकाला।
नरनागर—चतुर पुरुष।
१० निरलंकृत—अलंकारहीन।
११ नेह—स्नेह; प्रेम।
१२ रंजक—प्रसन्नता देनेवाला।
व्यंजक—प्रकट करनेवाला।
गेह-कलह—घरेलू लड़ाई।
१३ सुदेशिनी—सुन्दर अंगोंवाली।
रोपे हाथ····थे—कैकेयी ने राजा दशरथ के रथ की धरी में हाथ लगा दिया था जबकि वह इंद्र के लिए युद्ध करते समय निकली जा रही थी।
१५ कीर—तोता।
कागर—छोटे-छोटे पंख जो बड़े पंखों के नीचे होते हैं।
१७ तमिस्रा—रात।
१८ वृंत—डंठल।
१९ राजस-लक्षण-वलित—राजसी चिह्नों से युक्त।
खिन्नमना—दुखी।
२० चरणोदक—पैरों का धोया हुआ जल।
२१ पितुराज्ञा—पिता की आज्ञा।
२३ उटज—झोंपड़ी।

मंदा—मंदाकिनी नदी।
२४ क्षिप्र—तीव्र गति से।
२६ चतुरानन—ब्रह्मा।
२७ छके—तृप्त हुए।
३० अटवी—वन; जंगल।
अभिराम—सुंदर।

दसवाँ सर्ग

छंद

१ प्रयोजन—उद्देश्य; ध्येय।
२ वामपंथी—वाममार्गी।
दुर्वृत्त—दुराचारी; दुश्चरित्र।
३ चर्वण-शेष—चवाने से बची हुई।
कंकाल—हड्डियों का ढाँचा।
४ जग-प्लावन—जगत् को जल-प्रलय में डुवा देना।
निरापद—निर्विघ्न, आपदा-रहित।
६ सुस्पंदित—स्फूर्तिमयी।
सुस्वन—अच्छी ध्वनिवाले।
८ श्रमकण—पसीने की बूंदें।
पल्लव-अधर—कोमल पत्र रूपी होठ।
९ दहने दो—जलने दो।
१० अपवाद—निंदा।
११ सौध—राजभवन।
१२ ससोम—चंद्रमा सहित।
१४ तरुराजी—वृक्षों की श्रेणी।
१५ कमनीय—सुंदर।
कुरंग—हिरण।
करभ—हाथी।
वितुंड—सूंड़।

चंद्रित—शोभित; चंद्रिका-युक्त।
मंद्रित—ध्वनित; स्वरपूर्ण।
१७ पार्श्व—समीपता।
पुण्य-स्मरण-शेष—जिनकी पवित्र याद ही रह गई है।
१८ भाव-विलीना—भावों में मग्न।
१९ नाविक—मल्लाह; नाव खेने-वाला।
२१ प्रमदा—युवती स्त्री।
बाहु-विलंबित—भुजाओं तक फैले हुए।
२२ व्याघ्रिणी—सिंहनी।
२३ दारुण—कठोर; भीषण।
एक वीर—अद्वितीय वीर।
२५ धरापृष्ठ—धरती की पीठ।
स्वर्णांगी—सोने के समान दीप्त शरीरवाली।
स्निग्ध—स्नेहभरी।
२९ कपट-कुरंग—छली हिरन; मायामृग।
३१ घटाटोप—बादलों की घटा-जैसा छाया हुआ अंधकार।
३३ छलना—धोखा।
कलना—उत्पत्ति; विकलता।
३४ भीरु—डरपोक; कायर।
भर्त्सना—फटकार; निंदा।
३८ पार्श्व—बगल।
क्षुधा-क्षुब्ध—भूख से व्याकुल।
३९ अन्नदा—अन्न देनेवाली।
४० भीतहृदय—हृदय में डरा हुआ।
४२ अर्गला—रोकने की रेखा।

छद्मयती—बनावटी यती।
४३ हीरे की कनी—इसके खाने से मनुष्य मर जाता है।
४४ ताक रहा—ध्यान से देख रहा।
४५ शब्दवाही—शब्द को दूर-दूर ले जानेवाला।
४७ शुक—तोता।
सारिका—मैना।
कपोत—कबूतर।
करिणी—हथिनी।
४८ विषण्णमुखी—रंजीदा; शोक भरी।
संज्ञा—चेतना; होश।
टेक—व्रत; धारणा।
५० वक्षस्थल—छाती।
५३ दुरुपयोग—बुरी तरह काम में लाना।
५४ निरीह—निश्चेष्ट; उदासीन।
भैरव गर्जन—भीषण स्वर से गर्जना।
५५ तुमुल—हलचल का।
पीवर—पुष्ट; बलवान।
वपुष—शरीर।
५९ वैनतेय—गरुड़; विनता की संतान।
६० शृगाल—गीदड़।
६२ वल्गा—लगाम; घोड़ों की डोरी।
६३ व्योम-वीथिका—आकाश की गली; आकाश-मार्ग।
६५ स्वर्णिल—सुनहरी।
६६ पामर—नीच; पापी।
६७ निरादृत—निरादर किया गया; तिरस्कृत।
६९ चपला—बिजली।
७२ शोकप्रपन्न—शोक से पूरित।
सौख्य—सुख।

ग्यारहवाँ सर्ग

छंद

१ सविता—सूर्य।
२ करीश्वर—गजराज; हाथियों का राजा।
भीमनिनादी—भयंकर नाद करनेवाला।
गर्जनग्राम—गर्जना का समूह।
नदीश्वर—समुद्र।
३ नैराश्यगर्त्त—निराशा का गड्ढा।
४ पारावार—समुद्र।
आश्वस्त किया—आश्वासन दिया; सांत्वना दी।
धूम-पुंज—धुएँ का समूह।
ध्वस्त—नष्ट।
५ पितृव्य—चाचा।
पराभूत—हारे हुए।
शौर्य-निश्शेष—शूरताहीन।
६ असिकोष—तलवार का म्यान।
७ कंक—सफेद चील।
तरणि—सूर्य।
९ याम—पहर।
१० विमोहित—मूर्छित।
प्रमीला—मेघनाद की पत्नी; सुलोचना।
१२ भुजंगी—सर्पिणी; नागिन।
१४ कुजाता—१-पृथ्वी से उत्पन्न

हुई; २-बुरे वंश में उत्पन्न।

१६ आलोचन—भली-भाँति विचारना।

वारिमोचन—आँसू गिराना।

१७ आक्रोश—कोसना; शाप देना।

कर्बुरेंद्र—राक्षसों का राजा।

रण-लिप्सा—युद्ध की प्रबल लालसा।

शलभ—टिड्डी; पतंग।

करभ—हाथी।

१८ रघुवीरोपासी—श्रीराम की उपासना करनेवाली।

१९ अवहेला—उपेक्षा।

२१ भाथी—तरकस।

२४ वरुण वाण—जल का वाण।

२६ साम्य—समता।

काम्य—इच्छित; चाहा हुआ।

२८ नाराच—वाण।

चंग—पतंग; गुडी।

नाभिकुण्ड का भेद—रावण की नाभि (टूंड़ी) में अमृत भरा हुआ था।

प्रतीति—विश्वास।

२९ निशागम—रात का आना।

३१ उपालंभ देकर—ताना मारकर।

अनी—नोंक।

३३ आच्छन्न—घेरे हुए; ढके हुए।

श्रमित—थकित।

३४ निद्रागता—नींद को प्राप्त हुई; नींद में पड़कर।

३५ विशिख—वाण।

दव—दावाग्नि; वन की आग।

३६ पयःस्रोत—पानी का सोता।

३८ छिन्न—कटे हुए।

४० महीसुता—पृथ्वी की पुत्री।

शची—इंद्राणी।

४१ अभिषेक—स्नान।

अंगराग—उबटन; सुगंधित द्रव्य।

अमरवधू—देवताओं की पत्नियाँ।

४२ पंकिलवसना—मैले वस्त्रोंवाली।

रसना—जीभ।

४३ राजन्य—राजाओं का।

धूमिलता—मैलापन।

४४ बाहु-पाश—भुजाओं का फंदा।

इंगित—संकेत; इशारा।

४६ भृत्य—सेवक; नौकर।

४७ संसर्ग-जन्य—संबंध से उत्पन्न।

भूतल-भावन—समस्त पृथ्वी को अच्छा लगनेवाला।

४८ साल रहे—चुभ रहे हैं; करक रहे हैं।

पंकिल—कीचड़वाला।

४९ पानी पानी थी—अत्यन्त लज्जित थी।

५१ अनुरक्ति—प्रेम।

सौम्यमूर्ति—सरलता और शील की प्रतिमा।

दिव्यालंकृत—अत्यंत सुन्दर शृंगार किये हुए।

५२ उद्रेक—उभार; वृद्धि।

अंजनी—हनूमान की माता का नाम।

५४ पाशबद्ध—बँधा हुआ।

पाशी—बाँधनेवाला।

रक्तोदधि—लोहू का समुद्र।
५५ विकच—खिले हुए।
किंशुक—पलाश; ढाक।
सोह रहीं—शोभा दे रही हैं।
५६ पराभव—हार।
५८ प्रमाद—भूल, अंतःकरण की दुर्बलता।
५९ ललना-सुलभ—जो स्त्रियों को सहज ही प्राप्त हो।
६० आह्लाद—आनंद।
६१ आभारी—कृतज्ञ; अहसान-मंद।
६३ प्रसव की पीड़ा—जनन का कष्ट; बच्चे को जन्म देते समय की तकलीफ।
व्रीड़ा—लज्जा।
६४ क्षेममयी—कल्याणमयी।
६६ स्नेहातुरा—प्रेम में विह्वल।
निस्तब्ध—शांत; चुपचाप।
६७ कुलग्न—बुरी घड़ी; बुरा मुहूर्त।
मिठबोला—प्रियवादी; मीठा बोलनेवाला।
७१ सांध्य सुंदरी—संध्या रूपी रमणी।

बारहवाँ सर्ग

छंद
१ तृषातुर—प्यास से व्याकुल; अत्यंत प्यासे।
लोलुप—लोभी।
२ तोय-ताल—पानी का ताल।
जलतरंग—एक प्रकार का बाजा जो कटोरियों में पानी भर कर बजाया जाता है।
सुस्वन—मधुर ध्वनिवाली।
रुनझुन—झनकार।
५ उद्विग्न—आकुल।
८ सस्मित—मुस्कराता हुआ।
समाश्वासित—अच्छी तरह सांत्वना दी गई; भली-भांति धैर्य बंधाई हुई।
ज्वार—चंद्रमा के आकर्षण से समुद्र की बहुत ऊँची उठती हुई लहर।
१० समीक्षा—समालोचन; सब प्रकार से देखभाल करना।
१२ शतधा—सैकड़ों प्रकार की।
क्षणदा—बिजली।
१३ अकरुणता—कठोरता; निष्ठुरता।
१४ वह्नि—आग।
हुताशन—अग्नि।
लोहित कमल—लाल रंग का कमल।
सिंधुजा—लक्ष्मी।
१५ कुंदन—तपा हुआ दीप्त सोना।
कमनीय—सुन्दर।
१६ रजनीकांत—चंद्रमा।
१९ शक्रजेता—इंद्र को जीतनेवाला; मेघनाद।
दारुणता—भारी कठोरता।
व्रण-थल—घाव की जगह।
२० तनुत्राण—कवच।
२१ प्रयोजन—उद्देश्य; कार्य।
२२ दुर्वृत्त—दुराचारी।

लेखा—पंक्ति।
२३ अनवद्य—निर्दोष।
२४ मज्जित—लिपटी हुई; डूबी हुई।
२६ लेखा—हिसाव; विवरण।
२७ ध्या लेता—ध्यान कर लेता हूँ।
२८ अनाड़ी—अज्ञ; मूर्ख।
२९ श्रम-संभूत—थकावट से उत्पन्न।
३० अरुणचूड़—लाल चोटीवाला; मुर्ग़ा।
रुचि—कांति; चमक।
प्राची—पूर्व दिशा।
राग-राँची—राग में मग्न व प्रसन्न।
३४ अभावन—असुंदर; वुरी; कुरूपा।
३६ पद-निर्गत—चरणों से निकली हुई।
३८ परिष्कार—शुद्ध होना; निखरना।
उपक्रम—आरंभ।
पूत—पवित्र।
४१ सन्नद्ध—तैयार; प्रस्तुत।
४३ सत्ता—अधिकार; वल।
४६ मनोज्ञ—सुंदर।
अवगाहन करना—थाह लेना; विलोडन करना; यहाँ वहाँ सर्वत्र घूमना।
४८ फेनिल—झागोंवाली।
फवीली—सुंदर; खिलती हुई।
४९ कमठ—कछवा।
तरणी-तुल्य—नाव के समान।
५० मथानी—रई; दूध वा दही को विलोनेवाली लकड़ी।

नीर-सरोवर—जल में वना हुआ तालाव।
५१ वेलानिल—समुद्रतट की हवा।
उरगमालिका—सांपों की पंक्ति
एकाकार—समान रूप के; लहरों से मिलकर उन्हींके [illegible] के बने हुए।
फणियों—सांपों, फणवा[illegible]
५२ चमरी धेनु—पहाड़ी गाय [illegible] की पूँछ के वालों से [illegible] वनाये जाते हैं।
५३ तिमिंगल—महामत्स्य; [illegible] काय मछली।
भींचे—दवाये हुए।
भाल-रंध्र—मस्तक के छेद।
उत्स—फव्वारे।
५४ मातंगनक्र—हाथी के समान मगर; वड़े आकारवाली भोंट।
छाल—उछालना।
५५ अर्णवपोत—समुद्र का जहाज; जलयान।
५७ तरुराजी—वृक्षों की पंक्ति।
ललाम—सुन्दर।
५८ सिकता—वालू
पूंगीफल—सुपारी।
५९ उत्पतित—ऊपर को उठती हुई।
सक्रिय—काम में लगे हुए।
६० युगपत्—साथ साथ ही; एक ही समय में।
भावन्—सुंदर।
६१ खिलती है—शोभा देती है।
६२ पुष्प-पंजिता—जहाँ फूलों के

ढेर लगे हुए हैं ।

६३ नग—पर्वत ।

तन्वी—पतली; कृश ।

संगम—गंगा यमुना के मिलने

५ का स्थान ।

५८ हृदयंगम—हृदय में समानेवाली ।

५९ सितपद्म—सफेद कमल ।

इंदीवर—नील कमल ।

६० अफन—गूंथना; मिलाना ।

६१ आभात—नहाये हुए ।

मंद—सुग्रीव ।

६३ प्रसवकर—खान ।

श्रीपति—लक्ष्मी के पति विष्णु; राम ।

भूतल-भावन—पृथ्वी भर को अच्छी लगनेवाली; परम सुन्दर ।

७० पथी—बटोही; राहगीर ।

उन्मुख—ऊपर को मुंह किये हुए ।

७१ जटिल वेष—जटाओंवाला रूप ।

विग्रह—शरीर ।

७२ वार रही थी—निछावर कर रही थी ।

७३ उन्नतशृंगी—ऊँची चोटियोंवाली ।

गीता—वृत्तांत; कीर्ति-कथा ।